जनवरी-मार्च २००२

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

डॉ. सुकीर्ति गुप्ता ● डॉ. अजय शर्मा ● सुधीर अग्निहोत्री
राजीव सिंह ● डॉ. देवेंद्र सिंह

आमने-सामने
डॉ. देवेंद्र सिंह

●

सागर / सीपी
वीरेंद्र कुमार गुप्त

१५ रुपये

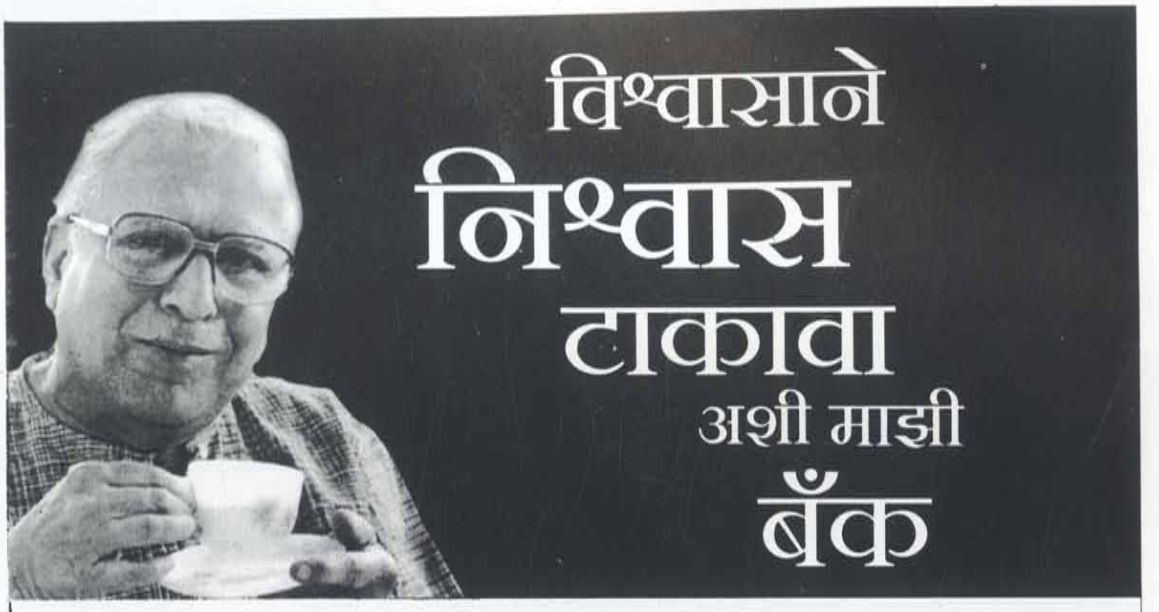

ठेवी
रु. ५ लाख १९७४
रु. १७५ कोटी २००२

१०.२५% + ०.५%* किंवा १.०%*

★ अटी लागू

जेष्ठ नागरीकांसाठी
२७ महीने व त्यावरील ठेवींवर व्याज
+ ०.५०% १ ०० ०००/-रु पर्यंत
+ १.००% १,००, ०००/-रु वरील रकमेसाठी

एक रकमी मोठ्या ठेवी
रु १५ लाख एक रकमी
ठेवींवर + १% व्याज
विश्वस्त संस्थांच्या ठेवींवरही लागू

सहकारी बँकिंग काळाची गरज

+ कर्जे रु. ६३८ कोटी
+ गुंतवणूक रु.३१२ कोटी
+ 'अ' ऑडिट वर्ग

जनकल्याण
सहकारी बँक लि.
(शेड्युल्ड बँक)

मुख्य कार्यालय- चेंबुर, मुंबई-७१.
फोन-५२२ २५८२ फॅक्स-५२३ ०२६६
ई-मेल : jnklnbnk@bom3.vsnl.net.in
आमच्या वेबसाईटवर मेटा : www.janakalyanbank.com

SUJAYAD-COM /JNKLN-3

जनवरी-मार्च २००२
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● संपर्क ●
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : ५५१ ५५४१ व ५५५ ५८२२
टेलीफैक्स : ५५५ २३४८
e-mail: kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु
१५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || हिस्सेदारी / **डॉ. सुकीर्ति गुप्ता**
|| ९ || क्षमा / **डॉ. अजय शर्मा**
|| १२ || अपने-अपने कल्पवास / **सुधीर अग्निहोत्री**
|| १७ || जूनी झूठ नहीं बोलती / **राजीव सिंह**
|| २३ || अवसर / **डॉ. देवेंद्र सिंह**

लघुकथाएं

|| ११ || पागल / **यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'**
|| २९ || निर्वाण / **आनंद बिल्थरे**
|| ३७ || सीख, चंदा / **डॉ. रामकुमार तिवारी**
|| ४५ || छलावा / **जीवितराम सेतपाल**
|| ४९ || आसमां, हम सब एक हैं... / **आलोक कुमार सतपुते**
|| ४९ || ठहाका / **दामोदर मोदी**

ग़ज़लें / कविताएं

|| ४६ || कभी ऐसा भी तो हो ! / **मनमोहन किशन सिन्हा**
|| ४६ || कोरे काग़ज में / **कुंतल कुमार जैन**
|| ४६ || अपने हिस्से की ज़िंदगी / **डॉ. कृष्ण मोहन झा**
|| ४७ || 'एक और समझौता' / **घनश्याम अग्रवाल**
|| ४७ || अभी तो, हर बार / **क्रांति**
|| ४७ || गीत / **निर्मल मिलिंद**
|| ४८ || ग़ज़लें / **प्रेमलता त्रिपाठी / दिनेश सिंदल**
|| ४८ || जंग जारी है, आवाज़ सुन / **डॉ. भगीरथ बड़ोले**
|| ४९ || ग़ज़लें / **कृष्ण सुकुमार**

स्तंभ

|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| ३० || आमने-सामने / **डॉ. देवेंद्र सिंह**
|| ३४ || सागर-सीपी / **वीरेंद्र कुमार गुप्त**
|| ३९ || पुस्तक-समीक्षाएं

लेटर बॉक्स

⌘ 'कथाबिंब' का संयुक्तांक मिला. पत्रिका देर से निकलने के बावजूद पढ़ने की ललक बनी रहती है. कहानी पत्रिकाओं का महत्व कभी कम नहीं होता - *कहानियां* (पटना), *नीहारिका* (आगरा), *कहानी* (इलाहाबाद), *नई कहानियां* (दिल्ली), *सारिका* (बंबई), *कथांतर* (नयी दिल्ली), *कथाकार, कहानियां* (भोपाल) - ये सभी बंद हो गयी हैं, मगर इनकी याद अब भी ज़ेहन में है.

कलकत्ता से पैंतीस साल पहले इसी तरह की कहानी पत्रिकाओं में *'बिंब', 'रागरंग', 'आदर्श'* ने कहानी क्षेत्र में धूम मचा रखी थी.

सिद्धेश

श्रीपुर, पो. मध्यमग्राम बाज़ार (२४ परगना नॉर्थ) ७४३ २९८

⌘ संयुक्तांक मिला. सदा की तरह यह अंक भी आपकी संपादकीय दृष्टि का परिचायक है. टुकड़ों-टुकड़ों में लिखा जाने वाला आपका संपादकीय, विस्तृत सोच के लिए विवश करता है. 'कथाबिंब' का अंक जब भी हाथों में होता है, मैं सोचता हूं यह पत्रिका अरविंद जी के कहानीकार की सौत बनी हुई है. एक अच्छा रचनाकार जब किसी पत्र/पत्रिका से समर्पित मुद्रा में जुड़ जाता है, तो लेखन का होने वाला ख़ामियाज़ा ताज़िंदगी पूरा नहीं हो पाता. एक मित्र के नाते आपसे आग्रह है कि आप कृपया अपने पात्रों को भी आकार दीजिए, वे पात्र जो घटना और अनुभवों से आपके मन-मस्तिष्क में डेरा डाले पड़े हुए हैं. होता यह है कि, इनके साथ न्याय नहीं होने पर ये भूत बनकर सिर पर नाचते हैं.

डॉ. सतीश दुबे

७६६ सुदामानगर, इंदौर ४५२ ००९

⌘ 'कथाबिंब' का संयुक्तांक पढ़ गया. पूर्व के अंकों की तरह प्रस्तुत अंक भी पठनीय लगा. इस अंक की नरेंद्र कौर छाबड़ा की कहानी 'कर्फ्यू' काफी अच्छी एवं समसामयिक बन पड़ी है. आज जब कि गुजरात सहित पूरा देश बदले की आग में सुलग रहा है ऐसे में दिल दहला देने वाली यह कहानी दंगे के यथार्थ को हूबहू रुपायित करने में सक्षम है. 'दस का नोट', 'बीच का रास्ता', 'समर्पण', 'सवाल-दर-सवाल', 'दरार' आदि कहानियां ग्रामीण एवं शहरी परिवेश के सम्मिश्रण की उपज हैं. नवीन शैली एवं भाषा की आंचलिकता पाठक को पकड़ती है. 'आमने-सामने' और रामधारी सिंह 'दिवाकर' से सिद्धेश्वर की भेंटवार्ता आवश्यक साहित्यिक पहलुओं पर एक अच्छा व सच्चा खुलासा है. कुल मिलाकर यह संयुक्तांक पठनीय व संग्रहणीय है.

डॉ. सूर्यदीन यादव

३ पुनीत कॉलोनी, पराग सोसायटी के पीछे,
पवन चक्की रोड, नडियाड, खेड़ा ३८७ ००२

⌘ 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसंबर अंक प्राप्त हुआ. आजकल गुजरात जल रहा है - रोष में, जोश में, होश में. बरसों के दबे ज़ख्म नासूर की तरह फूट रहे हैं. इस आग में इंसानियत के साथ-साथ बहुत कुछ जल रहा है - समृद्धि, संस्कृति, संस्कार. आग से कैसी आग फैली है कि धुआं-धुआं बनकर उड़ रही है गांधी जी की अहिंसा, क्षमा, दया, करुणा. चारों तरफ मौत का तांडव नृत्य हो रहा है. छोटे-छोटे बच्चों की आंखों में दहशत है और बहुत सारे प्रश्न - जिनका उत्तर यह पीढ़ी नहीं दे पायेगी. जब हम छोटे थे तब बातें होती थीं- 'नंदन', 'पराग', 'बाल भारती', 'धर्मयुग' की. चूहे-बिल्ली के शिशु गीतों की. तब बचपन हंसता था. उस बचपन की छवि ने आज तक मन को बूढ़ा नहीं होने दिया. अब बचपन है, एके-४७, दहशत, आतंक, लाशों का ढेर और नफ़रत. क्या सौंप रहे हैं हम इस भावी पीढ़ी को ? पिछले वर्ष भूकंप था, और इस वर्ष ...? नज़र लग गयी है जैसे इस शांत, सुंदर राज्य को. मेरी बेटी इस वर्ष बारहवीं में है. १ मार्च की परीक्षा तो टली ही है आगे का भी कोई भरोसा नहीं है. भयंकर तनाव है. केंद्रीय विद्यालय जहां मैं पढ़ाती हूं, शहर के मध्य शाही बाग में है. वहां कर्फ्यू है. विद्यालय बंद है इसलिए समय मिल पाया है पत्रिका पढ़ने और पत्र लिखने का. तनाव से मुक्ति भी तो चाहिए !

'कथाबिंब' का यह संयुक्तांक कुछ काफी अच्छी कहानियां लेकर आया है. 'दरार' मुझे, इस अंक की सबसे अच्छी, बेबाक कहानी लगी. सरल शब्द हैं, किंतु बात उलझी. लेकिन एकदम समसामयिक. 'कर्फ्यू' तो जैसे यहीं का विवरण देती कथा है. उपन्यास अंश 'नहान' का अंत चौंकाने वाला रहा. आकाश 'अशेष' की ग़ज़ल अच्छी लगी. सभी स्थायी स्तंभ तो हमेशा पढ़ने ही होते हैं; स्तंभ पढ़े बिना पत्रिका पढ़ना अधूरा लगता है. लघुकथाएं नये तेवर लेकर आयी हैं. 'संकेत' का संकेत काफी स्पष्ट है.

मधु प्रसाद

२९ गोकुल धाम सोसायटी, कलोल महसाणा राजपथ,
चांदखेड़ा, अहमदाबाद ३८२ ४२४

⌘ 'कथाबिंब' के संयुक्तांक में डॉ. सतीश दुबे की कहानी 'समर्पण' अच्छी लगी. कनकलता जी की कहानी 'सवाल-दर-सवाल' में तत्सम, उद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग यद्यपि बहुत निपुणता के साथ हुआ है परंतु- 'प्रबंधन समय पर चेत जाती तो...' वाक्य में प्रबंधन को स्त्रीलिंग दिखाना कोई बिहारी शैली का वाक्य प्रयोग हो तो कह नहीं सकता, लेकिन हिंदी पत्रिका में ऐसा वाक्य-प्रयोग देखने को नहीं मिलता, होना चाहिए था. 'प्रबंधन समय पर चेत जाता तो...'

रमेश कुमार शर्मा

६/१३४ मुक्ता प्रसाद नगर,
बीकानेर ३३४ ००४ (राज.)

⌘ जुलाई-दिसंबर २००१ का 'कथाबिंब' प्राप्त हुआ. 'सागर/सीपी' में सिद्धेश्वर द्वारा 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' के निदेशक डॉ. रामधारी सिंह 'दिवाकर' का साक्षात्कार पढ़ा, अच्छा लगा. प्रश्न यदि और सशक्त होते तो निसंदेह उत्तर और गंभीर होते, तो पाठक डॉ. दिवाकर की प्रतिभा से और अधिक लाभांवित हो सकते थे. लेकिन वर्तमान स्थिति में भी इस साक्षात्कार की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता.

डॉ. प्रद्युम्न भल्ला की दोनों लघुकथाएं - 'ज़वाब' एवं 'उसके लिए' पढ़कर मन प्रसन्न हो गया. दोनों ही लघुकथाएं इतनी सहज एवं स्वाभाविक हैं कि सीधे हृदय में उतर जाती हैं. वहीं कृष्ण 'मनु' की लघुकथा 'संकेत' वांछित प्रभाव छोड़ पाने में पूर्णतः असमर्थ रही है. इस लघुकथा में सहजता एवं विश्वसनीयता का अभाव है. यह गढ़ी हुई तथा पूर्व निर्धारित समापन तय करके लिखी गयी लघुकथा हृदय स्पर्श करने में पूरी तरह असमर्थ रही है.

डॉ. सतीशराज पुष्करणा,
महेंद्रू, पटना ८०० ००६

⌘ 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसंबर २००१ का अंक मिला. सभी रचनाएं मनभावन हैं. लघुकथाएं, 'संकेत' व 'ज़वाब', 'उसके लिए' अच्छी लगीं. बिना तेवर बदले कुछ पाया नहीं जा सकता. हम खुद ही डर, भय, अराजकता को जन्म देते हैं. बस थोड़ा-सा साहस ही तो चाहिए. लेखकों को बधाई.

माला वर्मा
हाजीनगर ७४३ १३५ (प. बं.)

⌘ अपनी आकर्षक रूप सज्जा से युक्त पाठक वर्ग को मनभावन रचनाओं को परोसने में अंक सक्षम है. जहां रचनाओं का तेवर सुखद है वहीं आपकी 'कुछ कही, कुछ अनकही' सामयिक चिंतन से संपृक्त है. आतंकवाद के नये चेहरे को, बुद्धिजीवी वर्ग को भी पहचानना और नंगा करना ज़रूरी है.

जहां कहानी 'बीच का रास्ता' सामंती सोच को उजागर करती है वहीं, 'कर्फ्यू' कहानी दंगों में प्रशासन की भूमिका को भी रेखांकित करती है. सतीश दुबे और कनकलता की कहानियां भी व्यवस्था की अंधी दौड़ का दस्तावेज़ हैं. डॉ. चंदेल का उपन्यास अंश भी पठनीय है. समग्रतः संपादन में आपका श्रम रंग ला रहा है.

मदन मोहन उपेंद्र,
संपादक 'सम्यक,' ए-१० शांतिनगर, मथुरा २८१ ००१

⌘ 'कथाबिंब' का संयुक्तांक निहारनीय, पठनीय एवं संग्रहणीय लगा. पंकज कुमार से लेकर जसवंत सिंह विरदी तक, सभी कहानियों में रस है, सोद्देश्यता भी. ग़ज़लें-कविताएं अपनी ज़गह इक्कीस साबित हो रही हैं. पत्रिका के स्तंभ मैं ज़रूर पढ़ता हूं. अंक दस्तावेज़ सिद्ध होता है तो देरी भी नहीं अखरती.

फूलचंद 'मानव',
३७२८/२२ डी सेक्टर, चंडीगढ़ १६० ०२२

⌘ 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसंबर २००१ संयुक्तांक देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ. कहानियां, कविताएं, गीत, ग़ज़ल, लघुकथाएं आदि काबिले तारीफ़ हैं ! विशेष रूप से रामधारी सिंह 'दिवाकर' जी का साक्षात्कार प्रकाशित कर आपने अररिया वासियों को सम्मान देने का काम किया है. इसके लिए संपादक जी एवं पत्रिका परिवार को मेरा साधुवाद. पत्रिका दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की करे. इसी विश्वास के साथ.

अब्दुल बारी साक़ी
व्याख्याता भूगोल विभाग, पीपुल्स कालेज,
अररिया ८५४ ३११

⌘ 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसंबर २००१ का अंक मिला. इस अंक में रचना चयन निर्ममतापूर्वक किया गया है. चाहे वह पंकज कुमार की कहानी - 'बीच का रास्ता' हो, या फिर जसवंत सिंह 'विरदी' की कहानी - 'दरार' हो. वहीं डॉ. रूपसिंह चंदेल का उपन्यास अंश 'नहान' भी उत्कृष्टता की श्रेणी में अपने कथ्य, शिल्प एवं भाषा की वज़ह से आता है.

'आमने-सामने' में डॉ. तेजसिंह अपने मन की गांठ खोल कर सीधे ही पाठकों के सम्मुख आ खड़े होते हैं. वहीं डॉ. रामधारी सिंह 'दिवाकर' से सिद्धेश्वर की भेंटवार्ता अद्भुत है. यह अंक निःसंदेह आपकी श्रम-साधना का परिचायक है.

पवन शर्मा
विद्या भवन, सुकरी चर्च, जिला छिंदवाड़ा,
जुन्नारदेव ४८० ५५१

⌘ 'कथाबिंब' के संयुक्तांक के लिए आभारी हूं. कहानियां अपने-अपने स्तर से सभी प्रभावित करती हैं. डॉ. रूपसिंह चंदेल का उपन्यास अंश अच्छा लगा.

'आमने-सामने' व 'सागर-सीपी' स्तंभ तो सदैव प्रशंसनीय होते ही हैं. रचनाकारों के हस्ताक्षरों के साथ परिचय रोमांचित करता था. इस बार ऐसा नहीं किया गया इसलिए लगा कुछ छूटा है. भविष्य में ऐसा कर सकें तो मेरी राय में मेरी तरह और भी लोगों को अच्छा लगेगा.

महावीर रवांल्टा
प्रा. स्वास्थ्य केंद्र, धरण, यूलंद शहर (उ. प्र.) २०३ १३१

⌘ 'कथाबिंब' संयुक्तांक की कहानियों पर तथा आतंकवाद पर केंद्रित आपका संपादकीय सराहनीय है. आतंकवाद का वीभत्स चेहरा राजनीति की कोख़ से ही पैदा हुआ है. आतंकवाद पर अमरीका के दोहरे मापदंड अब भी हैं.

'सागर-सीपी' में डॉ. रामधारी सिंह 'दिवाकर' ने बिहार के साहित्यिक माहौल, दलित साहित्य के नकारात्मक पक्ष के प्रचार पर, बिहार के साहित्यकारों की उपेक्षा, पाठकों की चिंता से अलग हिंदी

(. . . कृपया पृष्ठ ५१ देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

'कथाबिंब' को प्रकाशित होते हुए २२ सालों से कुछ अधिक समय हो गया है. यहां तक पहुंचने में बहुत से लोगों का सहयोग हमें मिला. गिनाने को बहुत से नाम गिनाये जा सकते हैं. लेकिन यह अनावश्यक ही होगा क्योंकि अभी मंजिल बहुत दूर है. अगर देखा जाये तो किसी भी अव्यावसायिक लघु-पत्रिका को चलाना एक कंटक भरी यात्रा है, एक बहुत बड़ी चुनौती. यहां पर कबीर की उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती है - कबिरा खड़ा बाजार में, जली लुकाठी हाथ / जो घर जारै आपनो चलै हमारे साथ. इस यात्रा में, 'कथाबिंब' अकेली नहीं है यह अहसास सुखद है. ऐसे सभी सहयात्रियों को नमन.

●

इस अंक में वर्ष २००२ के 'रेखा-स्मृति' पुरस्कारों की घोषणा की गयी है. सभी पुरस्कार विजेताओं को बधाई. और अब इस अंक की कहानियों पर कुछ - डॉ. सुकीर्ति गुप्ता की कहानी 'हिस्सेदारी' एक ऐसी औरत की कहानी है जो अपने रूप सौंदर्य के कारण सहज ही तथाकथित प्रेमी द्वारा छली जाती है. ऐसे बहुरूपिये समाज के हर तबके में पाये जाते हैं. 'क्षमा' कहानी पिता की बरसी पर घर आये पुत्र की कहानी है. भावनाओं में बह कर पुत्र विदेश से भागा चला आया, पर यहां आकर देखता है कि मां सहित परिवार के अन्य सदस्य महज़ किसी तरह बरसी मनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेना चाहते हैं. 'अपने-अपने कल्पवास' भी कल्पवास के नाम पर रस्म अदायगी की कहानी है. धन-संपन्न लोगों के लिए तपश्चर्या या त्याग जैसा कुछ भी नहीं रह गया है. राजीव सिंह की कहानी 'जूनी झूठ नहीं बोलती' बचपन के मीठे-खट्टे अनुभवों की याद ताज़ा कराती है. कहानी में आये कई प्रसंग ऐसे हैं जो थोड़े-कुछ बदलाव के साथ बचपन में सभी के साथ अवश्य घटे होंगे. डॉ. देवेंद्र सिंह की कहानी 'अवसर' इस शाश्वत सत्य को उजागर करती है कि आदमी जीवनभर पैसा कमाने में लगा रहता है. किंतु इस दौरान बहुत कुछ ऐसा है जो पीछे छूटता जाता है. हर किसी की ज़िंदगी में अवसर आते रहते हैं. पर हम उन्हें अनदेखा कर देते हैं और बाद में पछताते रहते हैं. इसीलिए कहा जाता है कि गया हुआ वक़्त लौटकर नहीं आता.

●

आज हमारा देश बहुत ही कठिन दौर से गुज़र रहा है. सब तरफ आग लगी हुई है. कहीं से भी उठी एक चिन्गारी सब कुछ तबाह कर सकती है. देश का बंटवारा स्वीकारने के बाद हमें आज़ादी मिली तो लगा था पिछला भूल कर धीरे-धीरे दोबारा अपनी अस्मिता और गरिमा पा लेंगे. प्रारंभ में देश की प्रगति में हर कोई हाथ बढ़ाना चाहता था. त्याग का एक ज़ज्बा सभी के दिलों में था. पर यह इंतज़ार बहुत लंबा हो गया. सब्र का बांध अब टूटने लगा था. यह विभ्रम १९७०-८० के दशक से शुरू हुआ. लोगों को लगा कि नेता और अधिकारीगण अपना घर भरने में लगे हैं लेकिन जनसामान्य को संयम से रहने की हिदायत देते हैं. उनकी कठिनाइयां और परेशानियां कम होने के बजाय बढ़ती ही जाती हैं. यह अहसास उन्हें भी ग़लत तरीके से धन पैदा करने की ओर प्रेरित करने लगा. भ्रष्टाचार दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से बढ़ने लगा. एक लचीली न्याय प्रणाली ने इसमें और मदद की. राजनीतिक प्रश्रय के कारण बड़े से बड़े घोटालेबाज को आज तक कोई सजा नहीं मिली. इसी के साथ धर्मनिरपेक्षता को ताक पर रख दिया गया. फिर खेल शुरू हुआ तुष्टीकरण का. मुसलमानों को बताया गया कि उनको ख़तरा है और अगर वे अपनी रक्षा चाहते हैं तो कॉन्ग्रेस को वोट दें. हर चुनाव में दिल्ली के इमाम से फ़तवे दिलवाये गये. इस दौरान जब भी कॉन्ग्रेस जीत कर आयी तो उसे कितनी भी सीटें मिली हों उसकी जीत का प्रतिशत २-३ प्रतिशत से अधिक कभी भी नहीं रहा. ऐसे में कभी प्रयास नहीं किया गया कि मुसलमानों को मुख्यधारा में लाया जाये. इससे आम हिंदुस्तानी मुसलमान जो पाकिस्तानी मुसलमान से भिन्न था अलग-थलग पड़ गया. उसके अंदर एक घोटुल किस्म की प्रवृत्ति काम करने लगी. पहनने-ओढ़ने, शिक्षा, व्यवसाय सभी में वे अलग दिखने लगे. कॉन्ग्रेस की नेत्री इंदिरा गांधी को लगता था कि भारत जैसे लोकतांत्रिक देश पर या तो वे राज्य कर सकती हैं या उनके परिवार का ही कोई सदस्य. बस रोटी के थोड़े टुकड़े तथाकथित मुसलमान नेताओं को डाल दो. यह सोचकर आश्चर्य होता है कि सर्वहारा की वकालत करने वाले वामपंथियों को भी राजशाही में कोई बुराई नज़र नहीं आती थी. उस समय कुछ बुद्धिजीवियों को लगता था कि इंदिरा गांधी ने जैसे अमृत पान किया है. भारत पर उनका ही एकाधिकार है. सालों एक परिवार को सत्ता में रखने की हमने बहुत बड़ी कीमत चुकायी है.

आज जब हम गुजरात में हुए हत्याकांड की बात करते हैं तो यह नहीं भूलना चाहिए कि इसके बीज १९८४ में इंदिरा गांधी की हत्या के समय बोये गये थे जब तीन दिनों में तीन हजार सिखों को जला दिया गया था या उनका कत्लेआम किया गया था. एक व्यक्ति की मौत का बदला तीन हजार लोगों को मार कर लिया गया. इसे कैसे भुलाया जा सकता है. आज १८ साल के बाद भी किसी को भी कोई सजा नहीं दी गयी है. इस नृशंस कत्लेआम के बाद पूरे देश में आम चुनाव हुए थे और कॉन्ग्रेस ४०० सीटें लेकर जीती थी. चुनाव के दौरान अख़बारों में पूरे पृष्ठों के विज्ञापन दे कर लगातार यह प्रचार किया जाता रहा कि सिख देश के दुश्मन हैं. यदि कोई सिख ड्राइवर की टैक्सी में बैठता है तो खतरे में पड़ सकता है.

इसके बाद आया राजीव गांधी का राज. पिछला सब कुछ भुलाकर लोगों ने एक युवा नेता की ओर बहुत उम्मीद भरी नज़रों से देखना शुरू किया. पर बहुत जल्दी कलई खुलने लगी. पहले लिट्टे के अलगाववाद को हमने समर्थन दिया. पानी के ज़हाज द्वारा दवाइयां और भोजन भेजा गया. वहां हाथ जले तो श्रीलंका के अनुरोध पर शांति सेना भेजी गयी. शांति स्थापना के इस विफल प्रयास में तीन साल में हजारों भारतीय नवयुवक सैनिकों को अपने प्राण गंवाने पड़े. यह हमारी विदेश नीति की सबसे बड़ी विफलता थी जिसने बाद में स्वयं राजीव गांधी की जान ले ली. *(कृपया शेष भाग पृष्ठ-५० पर देखें)*

कहानी

हिस्सेदारी

डॉ. सुकीर्ति गुप्ता

दोपहर के दो बज रहे हैं. सुबह दस बजे से नेहा अपनी सीट पर पुस्तकालय में काम कर रही है. 'नारी व्यक्तित्व' पर शोध कार्य प्रायः समाप्ति पर है. चाय का बहाना अच्छा रहेगा सो साथी की खोज में वह इधर-उधर देखती है. थोड़ी दूर पर सुधीर दिखाई देता है, वह बड़ी तन्मयता से नोट्स ले रहा है.

पुस्तकालय में आकर नेहा को काम करना अच्छा लगता है. यद्यपि घर में काफी एकांत मिलता है, पर यहां एक सामूहिक बौद्धिक कर्म का एहसास होता है. नेहा जब थक जाती तो शगल के लिए पढ़ते हुए लोगों का परिचय पढ़ने का कौतुक करती. उनके चेहरों के हाव-भाव को देखकर यह तय करती कि वे साहित्यकार हैं या दार्शनिक या राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री या गणितज्ञ या वैज्ञानिक. अपनी खोज की प्रामाणिकता के लिए इधर-उधर से निकलते समय रैक पर रखी पुस्तकें देख लेती.

सुधीर ने पुस्तक बंद कर दी है. चश्मे को रूमाल से पोंछकर पुनः पहन लिया है. उसकी ओर ही उठकर आ रहा है.

'नेहा, चलो चाय पीने चलते हैं.'

'हां... एक मिनट...'

और वह अपनी नोट बुक, पुस्तक बंद कर रैक पर रख देती है. पुस्तक के पृष्ठ पर चिह्न के लिए पेंसिल रख देती है. वैनिटी बैग लेकर चुपचाप कैंटीन की ओर उसके साथ चल देती है.

एक प्रौढ़ और स्थूल व्यक्ति पत्रिका विभाग में आराम कुर्सी पर बैठे सो रहे हैं. पत्रिका गोद में पड़ी फड़फड़ा रही है.

'सुधीर! रुको ! इच्छा हो रही है कि इन महाशय को चुटकी काटकर जगा दूं...'

'क्या बचपना है नेहा! अरे, इन्हें तो मैं प्रायः देखता हूं यहां सोने ही आते हैं. कर्मचारियों ने भी हार मान ली है.'

'लगता है पत्नी बड़ी लड़ाकू होगी, सो यहां चैन की नींद लेते हैं...'

'ओह! छोड़ो भी...' सुधीर की ओर ध्यान न देकर नेहा उनकी गोद से पत्रिका उठाते हुए जोरों से बोलती है- 'क्या मैं, यह पत्रिका ले लूं... आप तो...'

'सॉरी... हां... हां...' कहते अपनी झेंप मिटाते वे फौरन उठ खड़े होते हैं. स्टैंड पर रखी और पत्रिकाओं को उलटने-पलटने लगते हैं.

'तुम बड़ी सैडिस्ट हो, भला तुम्हें क्या मिला...' सुधीर ने चिढ़ते हुए कहा.

'यहां की डिसिप्लीन बनायी और थोड़ा सा मनोरंजन...'

इस हल्के से हास्य में दोनों की दिन-भर पढ़ने की थकान को राहत मिली.

तर्क-वितर्क, बहस के शोरगुल में डूबी हुई कैंटीन में खूब भीड़ थी. बड़ी कठिनाई से एक कोने में सीटें मिलीं. 'सेल्फ हेल्प' के नियमानुसार दोनों ही चाय और टोस्ट के लिए काउंटर पर खड़े होते हैं. अचानक नेहा पास में खड़ी महिला को देखकर चौंक पड़ती है. सींक -सलाई सा शरीर, मुंह पर आंखें ही बस ठीक ज़गह पर, चेहरे का मांस झूल गया है. उसने नेहा को देखकर चुपचाप नज़रें झुका लीं. नेहा ने उसका हाथ पकड़ लिया- 'तुम नंदिनी हो न...'

'नहीं... !' कहकर उसने धीरे से हाथ छुड़ा लिया और चली गयी. नेहा को आश्चर्य हुआ. जीवन में वह कभी भी किसी परिचित का चेहरा भूलती नहीं है, भले ही अल्प समय का परिचय क्यों न हो. पर नंदिनी के साथ तो उसने पूरे दो वर्ष बिताये हैं. वही आंखें, वही घुंघराले केश, बोलने का लहज़ा भी वही... फिर क्यों स्वयं को छिपा रही है. सुधीर सीट की ओर जा चुका था. नेहा की इस उल्फत से वह स्वयं को अलग ही रखना चाहता है. पर नेहा क्या करे... मन में हलचल हो रही है, किससे पूछे कोई तो... और अचानक रवि दा झूमते गुनगुनाते सामने दिखायी देते हैं. उनकी आंखें खाली सीट खोज रही थीं. नेहा ने खड़े होकर उन्हें बुला लिया. एक कुर्सी खींचकर मेज के सामने रख लेती है. रवि दा चाय और समोसा लेकर बैठते हैं. सुधीर के चेहरे से लग रहा था कि उसे रवि दा का आना अच्छा नहीं लगा. वह नेहा के साथ कुछ समय अकेले बिताना चाहता है, पर नेहा गंभीरता से लेती ही नहीं.

नेहा इस समय काफी गंभीर लग रही थी. कोहनी पर मुंह रखे चुपचाप उस दिशा की ओर देख रही थी जिधर वह महिला बैठी हुई थी. वह अकेली ही थी.

'रवि दा!...आप उसे जानते हैं... आप तो यहीं के क्वार्टर में कई वर्षों से रह रहे हैं?' नेहा ने पूछा.

रवि दा ने उस दिशा की ओर देखते हुए कहा- 'हां... क्यों?'

'वह नंदिनी है न?'

'हां... नंदिनी वीरसिंह...' रवि दा ने कहा.

'वीर... सिंह?' नेहा ने अटकते हुए कहा. 'पर इसका प्रेम तो महीप के साथ था...'

'यह मैं नहीं जानता. इतना अवश्य पता है कि वह काफी बीमार हो गयी थी. जीवन-मृत्यु के बीच में अटकी थी, उस समय वीरसिंह ने बहुत सेवा की थी. वह इन क्वार्टरों का दरबान है... उसी समय विवाह भी हुआ.' रवि दा बहुत तटस्थ थे.

'नारी व्यक्तित्व' के शोध का यह साक्षात प्रकरण था. नेहा के सामने अतीत घूम गया. कितने सुखद दिन बिताये हैं नंदिनी के साथ. एम. ए. करते समय वह उसके साथ ही रही है, उसे हॉस्टल में ज़गह नहीं मिली थी. नंदिनी बंबई से आयी थी और गुजराती विभाग में पुस्तकालय में उसे नौकरी मिल गयी थी. आकर्षण व्यक्तित्व था. बंगाल की सीधी-सादी लड़कियों में वह अलग ही दिखाई देती थी. बंबई के फैशन में ढली, अपने पुडुल कुत्ते को लेकर जब सुबह घूमने निकलती तो देखते ही बनता था. खरगोश की तरह मखमली कुत्ता और जीन्स में ढली नंदिनी. उसमें व्यक्तित्व का प्रभाव आतंकित करने वाला ही अधिक होता, ज़ल्दी किसी को बात करने का साहस नहीं होता. किंतु नेहा के साथ उसकी अच्छी निभती थी. सभी बातों में हिस्सेदारी रहती. यहां तक कि अपना प्रेम प्रसंग भी उसने नहीं छिपाया. पुस्तकालय में ही काम करने वाले महीप से उसे प्रेम, एक रोग की सीमा तक हो गया था. इस संबंध ने उसे काफी बदल दिया था. नंदिनी ने एक बार नेहा से उसको मिलाया भी. वह सामंतीय परिवार का सुंदर-स्वस्थ युवक था. उससे ही पता चला कि महीप काफी अकड़ू मिज़ाज का है.

घटना नंदिनी ने ही सुनायी थी. एक बार उसे बंगाली सेक्शन में जाना पड़ा, क्योंकि उसे गुजराती की कुछ विशेष पुस्तकों का बंगाली अनुवाद चाहिए था. उसे पुस्तकों की प्रदर्शिनी करनी थी. अपनी आदत के अनुसार महीप के पास जाकर अपनी मांग बड़े रूआब के साथ रख दी. महीप ने बिना देखे और प्रभावित हुए उसे पुस्तकों की सूची थमा दी और स्वयं कहीं उठकर चला गया. काफी देर तक खोजती रही, पर सफलता नहीं मिली. महीप से उसने फिर कहा, महीप ने पुस्तकों के नंबर दे दिये और कहा कि वह स्वयं आलमारी से निकाल ले. वह क्रोध में दहकती नीचे गयी, वहां अंधेरा तो था ही, इसके अलावा पुस्तकों में दी जाने वाली दवाई और सीलन की गंध से उसका सिर चकराने लगा. पुस्तकों को खोज नहीं पायी. क्रोध और खीज से उसकी आंखों में आंसू भर आये. अध्यक्ष ने पुस्तकें शीघ्र मंगवायी थीं. पुस्तकें रखने के तौर-तरीकों से वह अभी तक परिचित नहीं हो पायी थी. आकर बड़ी झुंझलाहट के साथ महीप से बोली -

एम. ए., पी-एच. डी.

लेखन : *'दायरे' कहानी-संग्रह और 'शब्दों से घुलते मिलते हुए' कविता संग्रह प्रकाशित. विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनात्मक लेख, विशेष रूप से संगीत से संबंधित लेख प्रकाशित. कहानी और कविताएं विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. हाल ही में एक उपन्यास का लेखन 'कस्बे की बिटिया और बाघ' जिसका एक अंश 'जनसत्ता' (कोलकात्ता) के वार्षिक विशेषांक में प्रकाशित.*

विशेष : *'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लघु उपन्यासों में नारी व्यक्तित्व' पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से पी-एच.डी.*

'पुस्तकें आपको ही निकाल कर देनी चाहिए.'

'आज्ञा दे रही हैं.' महीप ने कड़ी नज़र से देखते कहा.

'नहीं! निवेदन कर रही हूं.' नंदिनी ने धीरे से कहा.

महीप मुस्कराता हुआ गया और पुस्तकें ले लाया. तब से उनमें मित्रता हुई और बढ़कर प्रेम के सोपान तक पहुंच गयी. महीप के संबंध ने उसके स्त्रीत्व को निखार दिया.

नंदिनी कहती- 'जानती हो नेहा, बंगाली संस्कृति में प्रेम का कितना महत्व है... बात-बात में प्रेम-गीतों का उद्धरण और हां... वह कवि भी है. कविता ही नहीं करता, वह स्त्री को ही कविता बना देता है... उसकी कविता मुझसे अलग नहीं रह गयी है. कितना माधुर्य भरा है उसकी बातों में. उसकी बातें मेरे रूप को अलंकृत करती हैं. इच्छा होती है कि हमेशा पास रहे और इसी तरह बोलता रहे और मैं आंखें मूंदकर सुनती रहूं... मेरी सारी इंद्रियां कानों में सिमट आयें.'

'ए नंदिनी... यू आर एन इमोशनल फूल... यह क्या सारी चतुराई इतनी जल्दी समाप्त हो गयी.' नेहा ने कहा.. 'मैं क्या करूं... उसके सामने मैं विवश हो जाती हूं... पूरे जीवन का सफ़र मानो मैंने इतने थोड़े दिनों में ही तय कर लिया है.' नंदिनी ने कहा.

नेहा देख रही थी कि नंदिनी धीरे-धीरे कितनी बदलती जा रही है. जीन्स की जगह बंगाली पाड़ की साड़ियां ले रही थी. माथे पर बड़ी बिंदी शोभित होती और केश भी पोनी टेल की

ज़गह लहराते खुले छोड़ देती. नंदिनी बहुत सौम्य लगने लगी थी. उस महीप मुखर्जी ने नंदिनी को एकदम बदल दिया. सारा पुस्तकालय इस बात को लक्ष्य कर रहा था.

महीप का घर दूर था. अतः दोपहर का खाना और शाम की चाय नंदिनी के साथ ही लेता. संध्या के समय नेहा के आने पर वह चला जाता. नेहा को लगा कि उसकी उपस्थिति उनके जीवन क्रम में बाधा डाल रही है. एक दिन उसे पता लगा कि नंदिनी और महीप शीघ्र विवाह के बंधन में बंध रहे हैं. नेहा ने अब वहां रहना उचित नहीं समझा और शीघ्र ही चौरंगी स्थित काम करने वाली लड़कियों के हॉस्टल में चली गयी. अब फ्लैट में सिर्फ नंदिनी ही थी सो महीप का अधिक समय वहीं गुज़रने लगा. नंदिनी के आग्रह पर नेहा उसके पास जाती. प्रेम व्यक्ति को कितना निखार देता है, यह उसका चेहरा देखते हुए उसे अनुभव होता. कितनी ललक के साथ मिलती है. देखते ही आगोश में भर लेती है और धीरे-धीरे बहुत सारी बातें जो भी महीप के साथ घटतीं उसे सुनाती. अभिन्न मित्र को सुनाने में दुबारा उन बीती घटनाओं में जीने का एक अपूर्व आनंद होता है. नंदिनी को देखकर लगता जैसे प्यार करने की एक विशेष ऋतु होती है. जब प्रकृति का कण-कण लहलहा उठता है, वह अपना सारा सौंदर्य अभिव्यक्त कर देता है. उसी तरह कोई विशिष्ट व्यक्ति सिर्फ प्यार के लिए ही जन्म लेता है. नंदिनी के घर की साज-सज्जा बदल गयी थी. अब बंगाल की कला-कृतियों से कमरे सजे थे. संध्या के समय धूपबत्ती की गंध और बेला, रजनीगंधा फूलों की महक तो मन को बौराने के लिए काफी थी. महीप को फूलों का शौक था. अतः प्रति संध्या नंदिनी फूलों से सज जाती. इस वेगवती धारा का अंत क्या होगा - नेहा सोचकर सहम जाती. एक दिन नंदिनी से उसने पूछा - 'नंदिनी, एक बात मित्र होने के नाते पूछूं अन्यथा तो नहीं बोलोगी ?'

'अरे पूछो भी.' वह चहक उठी.

'तुम लोग विवाह कब कर रहे हो...?'

वह जोर से हंसी. फिर बोली - 'बड़ी बुज़ुर्ग बन रही हो. शीघ्र ही कर रही हूं. उसके मां-बाप आये थे, एक छोटी सी रस्म भी कर गये हैं और सुनो नेहा ! विश्वास से ही प्रेम उपजता है. वैसे तो काली मंदिर में जाकर पुरोहित से माला की अदला-बदली करके विवाह भी करा दिया है. बस ! सामाजिक दृष्टि से विवाह करना ही तो शेष रह गया है. यह देखो, यह अंगूठी भी उसकी मां दे गयी है. मैंने भी अपनी मम्मी को लिख दिया है.' उसकी आंखों में विश्वास की चमक थी.

'इतना सब कुछ घट गया और तुमने मुझे बताया भी नहीं.' नेहा ने कहा.

'माफ़ करना, ग़लती हो गयी,' और नाटकीय ढंग से कान पकड़ नेहा के सामने झुकी.'

'अच्छा जाओ... माफ कर दिया... किंतु आगे ऐसी भूल न हो.'

इसके बाद नंदिनी से भेंट नहीं हो पायी. शोध कार्य के लिए विशेष अनुदान पाकर नेहा दिल्ली चली गयी. वहीं दो वर्षों के लिए विश्वविद्यालय में काम भी मिल गया. कुछ दिनों तक तो नंदिनी के पत्र आते रहे पर धीरे-धीरे एकदम बंद हो गये. नेहा ने भी मन को समझा लिया कि संबंधों की इति इसी तरह होती है... और आज नंदिनी को इस रूप में देखकर वह अत्यधिक विचलित है. वह तो उसे पहचानने से ही इंकार कर रही है. किसी तरह नेहा ने पुस्तकालय में समय काटा.

दूसरे दिन सुबह लगभग आठ बजे नंदिनी के फ्लैट में वह पहुंची. रातभर वह ठीक से सो नहीं पायी. उसे देखकर नंदिनी को जैसे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ. नंदिनी तकिया का सहारा लिये बैठी थी.

'आओ नेहा, मैं जानती थी कि आज तुम ज़रूर आओगी. मैंने अभी चाय नहीं पी. वीरू जी... भई चाय... पकौड़े यहीं दे दीजिए.' बड़ी सहजता से उसने कहा.

यह वीरू जी संबोधन बड़ा अटपटा सा लगा. बहादुर जिसकी आयु लगभग पैंतीस वर्ष की थी, मुस्कराता हुआ आया और बड़ी शालीनता से चाय और पकौड़े रख गया.

नेहा बोलने के लिए शब्द नहीं जुटा पा रही थी. दोनों के बीच न जाने कितनी कही-अनकही बातों के तार अंतर को मथने लगे. नेहा, नंदिनी को देख नहीं पा रही थी. उसकी आंखों में आंसू झिलमिला रहे थे. नंदिनी ने ही शून्य तोड़ा - 'नेहा, पूछोगी नहीं कि यह सब कैसे हुआ ?'

'हां, मैं तो सह ही नहीं पा रही हूं.' अटकते-अटकते नेहा ने कहा.

'पागल हो... देखो मैं जीवित हूं न, जब कि जीवित रहने योग्य कुछ भी नहीं है.' नंदिनी ने कहा.

'यह सब कैसे हुआ ? बताओगी नहीं' - नेहा ने कहा.

'ज़रूर... तुम्हीं तो मुझे समझ सकोगी और मेरा दुःख दर्द भी हल्का हो जायेगा, जरा वीरू जी को काम पर चले जाने दो. मैंने तो आज छुट्टी ले ली है - प्रायः लेनी पड़ती है. अब तो जीवन की गाड़ी ऐसे ही घिसटती चलेगी और कब रुक जाये, पता नहीं...' नंदिनी की आंखें शून्य में भटक रही थीं.

दोनों ही मशीनवत् चाय और पकौड़े खाती रहीं. नौ बजे के लगभग वीरू चले गये.

'कहां से शुरू करूं ? लगता है कि मैं तो सिर्फ नरेट करने वाली हूं, वह कोई ओर थी. अब तो दर्द भी नहीं होता...'

नेहा ने बीच में ही टोकते हुए कहा... 'महीप का क्या हुआ... तुम दोनों तो काफी सुखी थे, विवाह भी कर चुके थे - तो...'

उदास हंसी बिखेरती नंदिनी ने कहा - 'वह विवाह तो एक फिल्मी दृश्य की तरह था. वैधानिक तो था नहीं. पुरोहित वगैरह भी झूठे थे. विश्वास ही टूट गया तो... मैं उन फोटो के बल पर क्या कचहरी का दरवाजा खटखटाती ?' नंदिनी हांफ उठी थी. कुछ देर बाद उसने फिर बोलना शुरू किया. 'वे तथाकथित मां-

बाप कभी-कभी आते थे. मैं कितनी आवभगत करती थी. महीप तो प्रायः साथ ही रहता... और फिर होना क्या था, मुझे गर्भ रह गया... महीप की इच्छा उसे नष्ट करने की थी, पर तुम तो जानती ही हो कि मुझे बच्चों से कितना प्यार है. मैं ही तो परिवार में सबसे छोटी थी.' कुछ रुककर... 'एक दिन... एक व्यक्ति महीप को खोजता आया, बाहर दरवाजे पर काफी देर तक बातें होती रहीं. महीप से पूछने पर इतना ही पता चला कि गांव से कोई आया है. वह उसके साथ ज़रूरी काम से जा रहा है... और मैं प्रतीक्षा ही करती रह गयी... दो दिन - चार, दिन - माह...'

नंदिनी कुछ देर चुप रही मानो शक्ति जुटा रही हो.

'लाइब्रेरी में मन नहीं लगता था. दिन चढ़ते जा रहे थे. सबकी प्रश्नपूर्ण आंखों का उत्तर देना और सहना कठिन हो रहा था. मैं स्वयं उसके गांव जाने की सोच रही थी, कि एक दिन संध्या के समय नीचे से आवाज़ सुनायी दी.'

कोई महिला महीप को खोज रही थी. स्वस्थ शरीर की युवा स्त्री थी, उसके साथ दो बच्चे भी थे. मैंने उन्हें ऊपर बुला लिया. उस महिला की तीक्ष्ण दृष्टि सहना कठिन था.'

'कहिए... आप कौन हैं ? उनसे क्या काम है ? मैंने एक साथ कई प्रश्न छोड़े. पता चला कि वह महीप की पत्नी है. गांव में रहती है, जब उसे मेरे विषय में पता चला तो पति को खोजती हुई यहां आयी. बड़ी लड़की तो ६-७ वर्ष की होगी, पर गोद का बच्चा डेढ़-दो वर्ष का था. कल्पना करो नेहा मेरे साथ संबंध होते हुए भी वह अपनी पत्नी से भी संबंध रख रहा था और वे उसके मां-बाप नहीं थे. दूर के रिश्तेदार थे. जिन्हें वह चाचा-चाची कहता है. जाते-जाते पत्नी कह गयी कि सिर्फ आप ही नहीं हैं- जिनके साथ उनका इतना गहरा संबंध है और भी कई हैं. गांव में भी एक विधवा ब्राह्मणी के साथ था और न जाने क्या-क्या... मैं कुछ भी सुन नहीं पा रही थी. विश्वास की चरम सीमा पर आघात बड़ा गहरा होता है. सोचने-समझने की शक्ति चली जाती है. मेरी सारी विवेकशीलता समाप्त हो गयी... बस एक कमजोर लड़की विश्वासहंता रह गयी. कितना गर्व था मुझमें अपने व्यक्तित्व का, रूप का... अपमान सह नहीं पायी और जीवन असहज हो गया.'

कुछ देर बाद नंदिनी ने फिर कहना शुरू किया, पर ऐसा लग रहा था कि मानो आवाज़ बहुत दूर से आ रही हो. कमरे में हल्की रोशनी थी, खिड़कियों पर गहरे रंग के पर्दे थे. नंदिनी की आंखें तेज रोशनी सह नहीं पा रही थीं. उसने आंखें मूंद ली थीं.

प्राण तो लौट आये... पर शरीर ने साथ छोड़ दिया. शरीर पर घाव से हो गये, उठने से लाचार. धीरे-धीरे सबने साथ छोड़ दिया. पर पता नहीं क्यों वीरू किस भावना की डोरी से बंधा आता रहा. वह मेरा सारा काम कर देता. समय मिलता तो बैठता, नहीं तो चला जाता. मैं एक सहायक के रूप में वीरू को हर माह कुछ रुपये दे देती. अधिक तबियत खराब होने पर रात में भी काफी देर तक रुक जाता. अजीब दुनिया है... मेरे इस सहारे को लेकर भी लोग हंसी-मज़ाक करते थे. मैं हमेशा से ही विरोधी प्रवृत्ति की रही हूं. प्रायः सोचती, प्रेम में पड़कर जीवन-साथी पाना कितना बेमानी होता है. प्रेम कितना कोमल, रेशमी धागों जैसा होता है. कभी भी टूट सकता है. फिर भी जीवन भर का साथ एक समझौते में बांधा जाता है. एक दिन यों ही खिड़की पकड़े खड़ी थी... सामने प्रकृति का सुंदर दृश्य हरे-भरे लहलहाते फूलों के पौधे, हरी मखमली दुर्वा का विस्तार... न जाने कितनी स्मृतियों को संजोये हुए था. मेरी आंखों से आंसू बह रहे थे.

'मेम साहब, इतना दुःख क्यों करते हैं.'

वीरू काफी देर से मुझे देख रहा था.

'तुम लोगों ने मुझे क्यों बचाया ?... मेरे लिए जीना-मरना अब एक ही है, मैंने कहा !'

'ऐसा क्यों कहते हैं...? मैंने अपने लिए बचाया है... आप नहीं जानते साब, आप मुझे बहुत अच्छा लगता... हम हमेशा आपको देखा करता. जब आप यहां घूमती थीं, अपने कुत्ते को लेकर... आपको याद होगा जब मुझे गाड़ी से चोट लग गयी थी... तो आप अस्पताल आयी थीं. मुझे बहुत अच्छा लगा था... आपने रुपयों से भी मेरी सहायता की थी... आप बहुत अच्छी हैं साब.' वीरू की आंखों में स्नेह था.

'सच नेहा, मैं प्यार की कितनी भूखी थी और यह प्यार जो सिर्फ दे ही रहा था, प्रतिदान की इच्छा नहीं, उसे कैसे संवारूं ... और एक दिन मैंने वीरू से कहा -'वीरू ! मुझसे विवाह करोगे ?'

वह अवाक् हो मेरा मुंह देखता रहा.

'ऐसा क्यों कहते हैं आप ?'

'देखो वीरू, मेरे जीवन के अधिक दिन नहीं हैं. अंतड़ियां जल चुकी हैं. कब तक औषधि से बचूंगी. मेरा जो कुछ भी नौकरी का रुपया - पी. एफ. यह सारा सामान तुम्हें सुविधा से मिल सकेगा... और तो तुम्हें कुछ दे नहीं सकती, वीरू बस यही...' कहते ही मैं रो पड़ी, और हमारा विवाह हो गया.

नेहा ने देखा कि नंदिनी रो रही है. वह उसके समीप आयी, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर प्यार करती बोली- 'नंदिनी, तुमने ठीक किया. तुम्हारा यह आत्म-संतोष ही तुम्हें शक्ति देगा. ईश्वर करे तुम ज़ल्दी ठीक हो जाओ.'

'अब जीवन पर विश्वास नहीं रहा नेहा. इससे मुक्ति चाहती हूं.' वह फिर डूब सी रही थी.

'नंदिनी ! जीवन पर आस्था रखो. इस जीवन का भी अलग अनुभव है...' उसने उत्तर दिया.

वीरू दोपहर को खाने के लिए आ गये. नेहा ने रुकना उचित नहीं समझा.

एक माह बाद नंदिनी को सचमुच मुक्ति मिल गयी.

१२ बी, देश प्राण ससमल रोड,
कोलकाता - ७०००३३

कहानी

क्षमा

हवाई अड्डे से बाहर निकलते ही मैंने टैक्सी ले ली. मुझे मालूम है कि जालंधर पहुंचते-पहुंचते आसमान सितारों की चादर ओढ़ने में मगन होगा और मुझे रात किसी रेस्तरां में गुज़ारनी होगी. क्योंकि हमारे गांव में बसों का रात्रि आवागमन नहीं. मेरा अभी आने का कार्यक्रम ही नहीं था क्योंकि गत वर्ष पिताजी की मृत्यु पर आया था. कुछ दिन पहले मां ने टेलीफोन पर मुझे बातों-बातों में बताया था कि पिताजी की बरसी है. मां की भावुकता मैंने टेलीफोन पर महसूस की थी. शायद यही एकमात्र वज़ह थी कि मैंने यहां आने की ख़बर किसी को नहीं दी.

रात गहरी हो चुकी थी. टैक्सी गांव के ऊंचे-नीचे रास्ते से गुज़रते हुए उस आखरी मुकाम तक पहुंच गयी, जहां तक जा सकती थी. आगे गलियां तंग होने के कारण मैंने टैक्सी वहीं छोड़ दी. मैंने बैग अपने कंधे पर डाला और कंबल को हाथ में पकड़ कर निस्तब्ध रात्रि के स्तब्ध मौन को चीरता हुआ अपने घर की ओर बढ़ने लगा. सोचते-सोचते मैं अपने घर के द्वार पर था. मैंने द्वार पर दस्तक दी. कोई भी ज़वाब न पाकर मैंने दस्तक के वेग को बढ़ा दिया.

'कौन ?'

'मैं'.

'मैं, तुम्हारा... जिंदर...'

'जिंदर...!' मां ने हैरानी से पूछा.

'हां, मां मैं जिंदर...'

मां ने द्वार खोला. मैं तीव्र गति की भांति मां के चरण स्पर्श करने को झुका ही था तो मां ने मुझे अपने हाथों का सहारा देकर अपने आगोश में ले लिया. मां हंसते-हंसते रोने लग गयी.

'मां, तुम्हारी आंखों में अश्रुधारा...?'

'कुछ नहीं बेटा, यह तो खुशी की धारा है, इसे बह लेने दो आज बहुत समय के बाद...'

'खैर... मेरी छोड़ तू अब सुना क्या हाल है, बहू बच्चे कैसे हैं ?'

'सब मजे में हैं. तुम्हें अमरीका आने को कहते हैं. मां ! भइया-भाभी कहीं दिखाई नहीं दे रहे.'

'वे तीसरी मंजिल की छत पर सोये हुए हैं, तू बैठ मैं बुला लाती हूं.'

'ना... मां तुम रहने दो मैं खुद ही जाकर बुला लाता हूं.'

'तू यहीं से आवाज़ दे ले.'

'दो-तीन बार पुकारा था. शायद भइया-भाभी गहरी निद्रा में थे.'

मैं बरामदे की छत पर अपना बिस्तर बिछा कर सोने की तैयारी करने लगा. सफ़र की थकान अधिक होने के कारण बिस्तर पर लेटते ही निद्रा देवी की आगोश में था.

मैं एकदम उठ बैठा, छोटे भतीजे ने मेरे कान में शरारत से तीली मार दी थी... 'चाचा जाग गया... चाचा जाग गया...' कहते-कहते बिल्लू कमरे में चला गया.

मैंने भइया-भाभी के चरण स्पर्श किये. भइया ने मुझे अपनी बांहों में लेकर मेरा माथा चूमते हुए कहा, 'आज बरसी है न, तू ज़ल्दी से नहा-धोकर तैयार हो जा.'

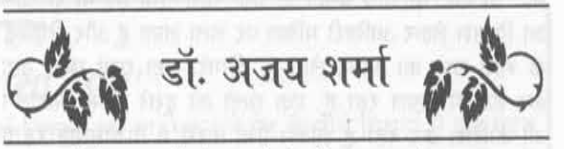

मैं तेज कदमों से नहाने के लिए चला तो अचानक एक सीढ़ी पर आकर रुक गया और मैंने जोर से उसे एक ठोकर मार दी. मुझे याद है जब मिस्त्री सीढ़ी बना कर गया ही था तो मेरा पांव अचानक लगने से सीढ़ी के सीमेंट का कुछ हिस्सा उखड़ गया था. परिणामस्वरूप पिताजी ने घर में महाभारत शुरू कर दी थी. उसके बाद मेरी आदत बन गयी थी. आते-जाते मैं इस सीढ़ी को अवश्य ठोकर मारता.

मैं दीवार पर अपनी पीठ लगा कर वहीं बैठ गया. मेरे सामने ही मां आंखें दरी पर गड़ाये बैठी है. अभी रिटायरमेंट में कुछ वर्ष पड़े हैं लेकिन पिताजी की मृत्यु के गम से मां के चेहरे पर उदासी की रेखाएं अंकित हैं लेकिन बुढ़ापा नहीं झलकता. बाल भी तकरीबन काले हैं, आज मां ने हल्के पीले रंग का सिल्क का सूट पहना हुआ था. कलाई में सोने की चूड़ियां हैं. मां के माथे पर बिंदिया का निशान है जो बिंदिया का आभास करवा रहा है. डॉक्टरों ने मां को बहुत समझाया कि माथे पर बिंदिया न लगाया करे क्योंकि मां को इससे विशेष किस्म की एलर्जी हो जाती थी लेकिन मां हमेशा कहती, 'यह तो मेरे सुहाग का चिन्ह है अपने जीते...'

'थोड़ी-सी रेत और एक बर्तन दो, हवन शुरू करना है.' मैं एकाएक तंद्रा से मुक्त हुआ. पंडित जी श्लोक बोल कर अर्थ भी साथ-साथ समझा रहे थे.

पंडित जी सामग्री के धुएं से आंखों में पानी निकल रहा है'. भाभी ने पंडित जी की एकाग्रता भंग करते हुए कहा.

'पंखा बंद कर दीजिए.' पंडित जी ने सहज भाव से ज़वाब दिया.

'पंखा बंद करने से गर्मी बढ़ नहीं जायेगी ?'

भाभी की इस बात से मैं मन ही मन कुढ़ता हूं तथा अपने मन में बुदबुदाया, 'नखरा कितना अच्छा है ?'

'मां पंडित जी से यह सारा सामान एक साथ नहीं जायेगा. मैं साथ चला जाता हूं.'

'नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है. यह अपशकुन होता है.' भाभी ने भौंहें ऊपर चढ़ाते हुए कहा.

'यह अपशगुन है तो वह...'

'बेटा, भाभी ठीक कहती हैं. तुम्हें इन रस्मों को तो मानना ही पड़ेगा.' मां की बात सुन मैं सहज हो जाता हूं.

मां मुझे चाय की तीव्र इच्छा हो रही है. मुझे एक बड़ा गिलास भर कर चाय का बना दो. मां मुझे हैरानी से देखती है. मैं कुछ नहीं बोलता. मां चाय बनाने के लिए चली गयी है. मां से चाय का गिलास लेकर आखिरी मंजिल पर चला जाता हूं और सिगरेट के साथ चाय का आनंद लेता हूं. सिगरेट का धुआं छल्ले बना कर हवा में उछाल रहा हूं. एक छल्ले को दूसरे में से निकालने की कोशिश कर रहा हूं लेकिन ऐसा करने में नाकामयाब रहता हूं. दोनों छल्ले एक-दूसरे में लीन हो जाते हैं. मैंने धुएं में निगाह गाड़ रखी है. धुआं कुछ ही क्षणों में छिन्न-भिन्न होकर नज़रों से ओझल हो जाता है एवं आकाश साफ नज़र आने लगता है. भइया-भाभी का चेहरा बहुत भयानक दिखने लगता है. उन दिनों जब मैं पिताजी की अचानक मृत्यु पर इंडिया आया था भइया-भाभी के प्रति मन में नफ़रत का वेग उभर गया था. भीतर से भयभीत था. कहीं यह बीज विशाल वृक्ष का रूप धारण न कर ले.

मुझे एक वर्ष पहले का समय याद आया जब पिताजी की मृत्यु की खबर फोन पर सुनकर मेरा दिल एकदम बैठ-सा गया था. विदेश में अलाइज़ा ने मेरा ख्याल रखा था. मैं हैरान था क्योंकि उनके समाज में तो पत्नियां अपने पति का अच्छी तरह हाल भी नहीं पूछतीं. पिताजी की मृत्यु को तो वे कुछ समझते ही नहीं.

यह अलाइज़ा ही थी जिसने मुझे बारह घंटों के बीच फ्लाइट पकड़वा दी थी. बहुत भागदौड़ करने पर ही टिकट ओ. के. हुआ था. मेरा मन भी पिताजी के अंतिम दर्शनों के लिए मचल रहा था. अभी पिताजी का पंच भौतिक शरीर राख़ में परिवर्तित नहीं हुआ था कि भाभी ने मेरी खाली अटैची देखकर मुझसे रोष प्रकट किया था. 'कोई बाहर से आये तो अपने दूरदराज़ के रिश्तेदारों के लिए कुछ न कुछ ज़रूर लेकर आता है और तुम हो जो खाली हाथ लटकाये आ गये हो.'

मैं मन ही मन कुढ़ रहा था कि पता नहीं किस तरह से मैं यहां पहुंचा हूं. भला ऐसे में मुझे किसी के लिए क्या याद रहता.

३१ अगस्त १९६० (जालंधर);

बी. ए. एम. एस.(गुरु नानक देव वि. वि., अमृतसर)

लेखन : *प्रमुख हिंदी, पंजाबी पत्र-पत्रिकाओं में लेख, साक्षात्कार, आवरण कथाएं एवं कहानियां प्रकाशित. कुछ कहानियां बंगला में अनुदित.*

प्रकाशन : *'चेहरा और परछाईं' हिंदी उपन्यास. 'लकीर दे आर-पार' (पंजाबी) कहानी-संग्रह. 'खुली हुई खिड़की' (हिंदी) उपन्यास एवं 'हरी साड़ी वाली औरत' कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.*

विशेष : *ज़ी नेटवर्क के अंतर्गत. सिटी केबल में समाचार प्रस्तुतीकरण. आकाशवाणी द्वारा प्रस्तुत नाटकों में भाग. पंजाब के प्रमुख समाचार पत्रों, दैनिक जागरण व अमर उजाला में साप्ताहिक स्तंभ लेखन. जालंधर के सर्वश्रेष्ठ मॉडेल से अलंकृत.*

संप्रति : *आयुर्वेदिक प्रैक्टिस के साथ-साथ दैनिक जागरण (जालंधर) के फीचर विभाग में कार्यरत.*

आज चौथा था और भइया ने मुझे आकर कहा, 'जिंदर, मैंने आज अपनी दुकान खोलनी है, कई दिनों से बंद होने के कारण काफी नुकसान हो रहा है.' भइया की इस बात से मैंने अपने माथे की लकीरों को गहरा करके कहा, 'हां, हां, तुम अपनी दुकान खोलो नहीं तो और नुकसान हो जायेगा.'

उसके जाने के उपरांत मैं मुंह में बुदबुदाया, 'प्यार, मोह और रिश्ता बस इन चीज़ों का कोई मूल्य नहीं. केवल काम, दिखावा मात्र, नुकसान-फायदा इन्हीं में हमारा व्यक्तित्व सिमट कर रह गया है.'

मैं परेशानी की मुद्रा में ऊपर चला गया और भाभी से कहा, 'मुझे एक गिलास चाय बना दो.' भाभी की तरफ देखकर मेरे पैरों तले ज़मीन खिसक जाती है. भाभी की गर्दन पर कुछ निशान हैं. मैं समझ गया हूं.

जब मैं और अलाइज़ा प्यार करते हैं तो उसकी गर्दन पर भी कुछ इसी तरह के निशान देखने को मिलते हैं. पर अभी तो कुछ ही दिन...ये इतनी नीचता तक उतर सकते हैं...मेरी तो रूह

कांपती है ऐसा सोचने मात्र से... कम से कम क्रिया तक तो... ऐसी कई बातों से भइया-भाभी के प्रति मेरा मन ख़राब था.

करवटें लेकर मैं थक गया था. नींद जैसे सुरख़ाब के पर लगा कर उड़ गयी थी कहीं. शरीर पसीने से तर हो गया था. पुरानी व नयी स्मृतियां एक-एक करके आंखों के सामने नृत्य कर रही थीं. जरा-सी आंख लगती, पल में खुल जाती. अजीब मानसिक द्वंद्व चल रहा था. मेरा मन कर रहा था कि मैं सारी बातें मां को बताकर मन का बोझ हल्का करूं, पर मां से बात कहां से शुरू करूं... क्या बताऊं... कुछ समझ नहीं आता.

रात गहरी हो चुकी है. गली में आवारा कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आने लगती है. मैं हिम्मत करके बिस्तर छोड़ता हूं और सीधा नीचे मां के कमरे का दरवाज़ा खटखटाने के लिए हाथ आगे बढ़ाता हूं लेकिन अचानक मेरा हाथ स्थिर हो जाता है. मैंने देखा मां के कमरे से दरवाज़े के छिद्र में से लाल रोशनी बाहर प्रकाशमय हो रही है. मैंने अपनी आंखें उस छिद्र पर टिका दीं, यह देखने के लिए कि कहीं मां गहरी निद्रा में तो नहीं ! वहां का दृश्य देखकर मेरी आंखें फटी रह जाती हैं.

मां लाल रंग की साड़ी पहने अपने आप को शीशे में निहार रही हैं. मेरी हैरानी उस समय ख़त्म हो जाती है, क्योंकि मां ने माथे पर अब बिंदिया भी सजा दी है. मां ने अपने बालों को झटका देकर आगे कंधों पर बिखेर लिया है. मां अपने शरीर को शीशे में बार-बार निहार रही है. अब मां ने एक-एक करके कपड़े उतारने शुरू कर दिये... और... और... फिर और... मुझे शर्म आने लगती है. मैं अपनी आंख उस छिद्र से हटा देता हूं और सीढ़ियों से एक निगाह भइया-भाभी के कमरे की ओर डालता हूं, वे आराम से सो रहे थे.

दूर कहीं मुर्गे की बांग देने की आवाज़ आती है. चिड़ियाएं जाग गयी हैं और मैं सोने चला जाता हूं. मुझे मालूम है कि आज मेरा मन बिल्कुल हल्का फुल्का है. इसलिए जहां भी लेटूंगा वहीं नींद आ जायेगी.

२४ मधुवन कॉलोनी, बस्ती बाबा खेल, जालंधर (पंजाब)

लघुकथा

पागल

✍ यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

दोपहर ! धरती गर्म तवे की तरह तप रही थी और सूर्य आंखें निकाल रहा था. एक घने पेड़ के नीचे चिथड़ों से ढके बदन और उलझे बालों को खुजाता हुआ एक पागल आकर बैठ गया. वह कभी दांत निकालता था और कभी हाथ ऊंचे करके अजीब सी हरकतें करता था. उसके पास पानी की एक केतली थी.

उसी समय एक सेठ पगड़ी बांधे और लंबे सांसें लेता हुआ आया-'अरे मर गया...क्या धूप तपती है. जलाकर राख़ कर देगी. गाड़ी को अभी ही ख़राब होना था.' उसने पागल की ओर देखा. मन ही मन कहा, 'कितना गंदा है.' और मुंह घुमा कर बैठ गया.

कुछ अंतराल के बाद वहां एक जोगी आ गया. पसीने से उसके ज़िस्म पर लगायी हुई राख़ बदरंग हो गयी थी. उसने अपने शरीर पर दो-चार फूंकें मारीं और वह उलाहने भरे स्वर में बोला, 'वाह भगवान ! आषाढ़ में इतनी गर्मी ? तेरी माया का कोई पार नहीं !'

भयंकर गर्मी. जोगी और सेठ के गले प्यास से सूखने लगे, लेकिन पागल तो मुंह लगा कर पानी पी रहा था. इतना गंदा और बदबूदार इन्सान कि घृणा आये. लेकिन प्यास ? इस बियावान जंगल में पानी आयेगा कहां से ? पागल अपनी हरकतों में खोया हुआ था.

'महात्मा जी ! आप तो महान ईश्वर भक्त हैं. कहीं से पानी की व्यवस्था कीजिए. इस पागल के हाथ का पानी...राम..राम, कै हो जायेगी.'

जोगी ने सेठ की ओर देखा. अर्थ भरी मुस्कान अपने भभूत से घिरे होठों पर बिखेरता हुआ बोला- 'सच, इसका झूठा पानी पीकर तो बीमार होना है, पर है तो यह ईश्वर की माया ही. किसी को धनी, किसी को जोगी और किसी को पागल...'

थोड़ा समय और गुज़र गया. प्यास के मारे सेठ और साधु तड़पने लगे. पागल अपनी हरकतों में मस्त. घूंट-घूंट पानी पी रहा था.

आख़िर सेठ और साधू को प्यास सही नहीं गयी. सेठ ने पागल से कहा - 'जरा पानी दो.'

साधू ने विनीत स्वर में कहा, 'पानी दो, धर्म होगा. ईश्वर तुम्हें स्वस्थ कर देगा, पगले.'

पागल अचानक खड़ा हो गया. उसने नाचने की मुद्रा में कहा, 'मैं बहरा नहीं हूं. सेठ के बच्चे, अपने पैसों से पानी मांग, जोगी तू अपने ईश्वर से. यह बदबूदार पागल का जूठा पानी है.'

पागल ज़मीन पर शेष पानी गिराता हुआ नौ-दो ग्यारह हो गया.

आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर ३३४ ००४ (राज.)

कहानी

अपने-अपने कल्पवास

पिछले दो संडे तो निकल गये तुम्हारे सोने के चक्कर में. क्या आज भी संगम नहलाने का इरादा नहीं है...! लोग विदेशों से आ रहे हैं, संगम में डुबकी लगाने और एक आप हैं ज़नाब! घर से सिर्फ़ दो किलो मीटर की दूरी पर बह रही हैं गंगा मइया, छत पर से खड़े होकर देखो, तो आस्थावानों के काफ़िले-के-काफ़िले संगम की तरफ बढ़ते दिखते हैं. पर हमारे साहब को फुरसत ही नहीं सोने से...! महाकुंभ के तीनों शाही स्नान निकल गये, दुनिया कुंभ स्नान कर चली गयी, पर इन्हें न मिली फुरसत गंगा मइया में डुबकी लगाने की. अरे, माघी पूर्णिमा से तो मेला भी उजड़ने लगेगा. जब मेले की सारी रौनक ख़त्म हो जायेगी तब चलियेगा क्या. मालूम है सैकड़ों वर्ष बाद पड़ा है यह विशेष कुंभ...! अरे, अपने लिए न सही, मेरे लिए तो चले चलो. सात फेरों में बंधी हूं तुम्हारे साथ. उठो...! आज मैं नहीं मानने वाली. विनीता ने पति की रज़ाई खींच कर एक सांस में सारी बातें ऐसे कह डालीं मानो स्टेज पर रटे-रटाये संवाद बोल रही हो.

ठंड के मौसम में मीठी नींद सो रहे किसी व्यक्ति की रज़ाई खींच लेना उस पर किसी हमले से कम नहीं होता है. पानी द्वारा सुबह-सुबह ऐसे हमले की उम्मीद उमेश को न थी. उमेश गुड़ी-मुड़ी हो गया. कटकटाती ठंड ने उसे हाथ-पांव समेट कर तकिये में घुस-सा जाने को विवश कर दिया. वह अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से जोकि सोकर उठने के कारण सुर्ख थीं, निर्निमेष विनीता को देखे जा रहा था. वह क्या बकबकाये जा रही है इसे समझने की कोशिश के साथ.

'सोने दो यार...! हफ़्ते में एक दिन ही तो मिलता है देर तक सोने के लिए...! क्या रखा है गंगा में. कौन से पाप किये हैं जिन्हें धोऊं जाकर गंगा में. एक बात जान लो विनीता - मन चंगा तो कठौती में गंगा.' उमेश अलसाये स्वर में बोला. ठंड से बचने के लिए उसने बेडशीट खींच कर ओढ़ ली और आंखें बंद कर मुंह तकिए में घुसेड़ लिया.

पर आज विनीता भी मानने वाली कहां थी...! उसने बेडशीट भी खींच ली और उमेश को झकझोरा. ऐसा करने में विनीता की चूड़ियां बेतरह खनखनायीं. नींद में खलल के बावजूद उमेश को विनीता की चूड़ियों की खनक अच्छी लगी. उसने विनीता का हाथ पकड़ कर चूम लिया, 'रहने भी दो यार...! प्लीज...! आओ कुछ देर तुम भी सो लो मेरे साथ.' उमेश ने उसे खींचा, तो विनीता भड़क उठी, 'आज ये घिसे-पिटे डायलॉग और प्लीज-प्लीज काम न आयेंगे. अब उठते हो कि लाऊं ठंडा-ठंडा पानी.'

उमेश अब समझ गया था कि आज जान बचा पाना मुश्किल है. उसने हथियार डाल दिये, 'अच्छा बाबा, लो मान ली तुम्हारी. चलो फटाफट तैयार हो जाओ. मैं भी फ्रेश होकर तैयार हो जाता हूं.' उमेश का स्वर कुछ भारी थी.

'मेरी तैयारी पूरी है, बस आपके लिए चाय बनाकर साड़ी बदल लेती हूं.' विनीता के चेहरे पर विजय की प्रसन्नता तारी हो रही थी.

सुधीर अग्निहोत्री

उमेश बाथरूम में घुस गया था. विनीता कुछ गुनगुनाती हुई किचन में घुस गयी.

'सुनो, बुरा ना मानो तो एक बात कहूं. संगम स्नान करने के बाद कुछ देर के लिए लखनऊ वाले चाचाजी के कैंप में भी चलेंगे. एक अरसा हुआ उनसे मिले. यहीं, मेला क्षेत्र में ही कल्पवास कर रहे हैं. पिछले दिनों फोन पर पता भी नोट करवाया था और आपको साथ लेकर आने के लिए बहुत जोर देकर कहा था.' विनीता ने खड़े-खड़े बड़े प्यार से उमेश के बालों में अंगुलियां फेरते हुए कहा.

उमेश ने चाय की लंबी चुस्की ली, फिर बोला, 'क्या कल्पवासियों के पास फोन भी होते हैं ?'

'तुम तो बच्चों जैसी बातें करते हो जी...! इक्कीसवीं सदी का महाकुंभ है यह. फोन तो मामूली बात है, साधु-संतों के टेंटों में तो इंटरनेट है. वे मोबाइल लेकर सिंहासनों पर बैठते हैं. तो बेचारे कल्पवासी फोन भी नहीं रख सकते क्या...! फिर अपने चाचाजी किसी राजा-महाराजा से कम हैं क्या...! आजकल लगता है, नींद के मारे सुबह का अख़बार भी नहीं पढ़ते हो. मोबाइल फोन पर बतियाते साधुओं की तसवीरें प्रमुखता से छप रही हैं उनमें.' विनीता उमेश पर चढ़ बैठी. उसने बालों पर अंगुलियां फेरना बंद कर दिया था.

'ठीक है..., ठीक है..., बात पकड़ना तो कोई तुमसे सीखे...! एक सवाल क्या पूछ लिया बस भाषणबाजी शुरू हो गयी. चलूंगा तुम्हारे चाचाजी के पास भी चलूंगा.' उमेश जान छुड़ाते हुए बोला.

विनीता ने तुरंत चाय का खाली कप उठाकर नाली पर रखा और भीतर के कमरे में जाकर साड़ी बदलने लगी.

कुछ देर बाद दोनों संगम के रास्ते पर थे.

मेला क्षेत्र में प्रवेश करते ही विनीता और उमेश भी संगम की तरफ बढ़ रही वर्गविहीन भीड़ का हिस्सा बन चुके थे. जो विविधता के बावजूद आस्था की डोर में मजबूती से बंधी थी. ग्रामीण परिवेश की महिलाएं व पुरुष काफ़िलों में बढ़े चले जा रहे थे. ये पैदल ही लंबा सफ़र तयकर के आये थे पर उनके उत्साह में कोई कमी न थी. 'गंगा मइया की जय' और 'गंगे तव दर्शनार्थ मुक्ति' जैसे जयघोष वातावरण की पावनता की अनुभूति करवा रहे थे. कुछ काफ़िले बैंड-बाजों, झांझ-मजीरों के साथ गंगा मइया की तरफ बढ़ रहे थे. अफ़सरों और नेताओं की लाल-नीली बत्ती युक्त कारें, भीड़ में रेलम-पेल कर रही थीं. संगम नोज पर भी ऐसे विशिष्ट लोगों की गाड़ियां काफी संख्या में खड़ी थीं. रेलम-पेल मचाती इन वी. आई. पी. गाड़ियों को देखकर उमेश आक्रोशित हो उठा. वह मन ही मन सोचने लगा, 'कितने स्वार्थी हैं ये बड़े लोग. बस चले तो गाड़ी समेत संगम में घुस जायें और नहाकर गाड़ी में बैठे हुए ही निकल आयें. क्या ये लाल-नीली बत्ती वाले, यहां मीलों-मील पैदल चलकर, सिर और कंधों पर भारी भरकम सामान लादकर सिर्फ एक डुबकी की कामना पूरी करने आने वाले आस्थावानों की आस्था का उपहास नहीं उड़ाते हैं...! इन बअसर लोगों के लिए न कोई प्रतिबंध है और न कोई नियम. इनकी वज़ह से आम आदमी को कितनी असुविधा होती है. सारा प्रशासन बौखलाया सा इनकी तीमारदारी में जुट जाता है. पद के ज़रूर बड़े हों, पर मन के ये कितने छोटे होते हैं. क्या ये कभी मन की अदालत में खड़े होकर अपने इस कृत्य के बारे में नहीं सोचते हैं या इनके भीतर की अदालत भी दम तोड़ चुकी है. इन सुविधासंपन्नों पर भारी है मीलों चलकर मैले-कुचैले वस्त्रों में आया वह मजदूर जो जून की तपती दोपहर में खेतों में अपना स्वेद बहाता है.'

उमेश के दिमाग में ये बातें तेजी से आ रही थीं जिन्हें वह विनीता से शेयर करना चाहता था. पर भीड़-भाड़ और शोर की अधिकता के कारण ख़ामोशी से चलता रहा. तभी अचानक पुलिस वालों की सीटियां तेजी से बज उठीं. भीड़ को चीरता एक वी. आई. पी. काफ़िला 'संगम नोज' की तरफ बढ़ा जा रहा था. इस अफरा-तफरी में एक बुढ़िया चकई प्लेट में फंसकर बुरी तरह गिरी, पर उस काफिले के किसी भी सदस्य का ध्यान इस ओर नहीं गया. उमेश ने लाकर बुढ़िया को सहारा देकर खड़ा किया. बिलोच गये पैर को हथेली से रगड़ा. बुढ़िया को आराम मिला. वह कुछ-कुछ लंगड़ाते हुए, उमेश को दुआएं देती आगे बढ़ गयी. उमेश फिर विनीता के साथ हो लिया, जो थोड़ा आगे खड़ी उसका इंतज़ार कर रही थी. अब दोनों 'संगम नोज' के काफी करीब थे.

१ मार्च १९६६ (इलाहाबाद);

बी. ए. एल. एल. बी. (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

लेखन : *पिछले १७ सालों से देश की स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में विविध विधाओं की ५०० से भी अधिक रचनाएं प्रकाशित. आकाशवाणी के इलाहाबाद केंद्र से समय-समय पर रचनाएं प्रसारित.*

विशेष : *साहित्यिक क्रिया-कलापों में सक्रिय तथा उत्कृष्ट रचनाधर्मिता हेतु विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित.*

संप्रति : *साप्ताहिक प्रयागराज टाइम्स के कार्यकारी संपादक के पद पर कार्यरत.*

अद्भुत दृश्य था संगम का. बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी मां की गोद में खेलते से प्रतीत हो रहे थे. घाट के किनारे से उठता धूप-दीपों का धुआं वातावरण को और पवित्र बना रहा था. कुछ दूर रेत के टीले पर खड़ा बांसुरी बेचने वाला बांसुरी की सुरीली तानें छेड़ रहा था. बांसुरी के सुर वातावरण में शहद-सी मिठास पैदा कर रहे थे. आम तौर पर भीड़-भाड़ से घबरा जाने वाला उमेश, अभिभूत हो उठा. कितनी विशाल है वत्सला की गोद...! कैसा समभाव है मां का...! मां की गोद में आकर बड़े-छोटे का भेद-भाव ही मिट जाता है. उमेश नहाने को आतुर हो उठा. उसे पहली बार महसूस हुआ कि यहां न आने पर वह क्या खो देता. उसे विनीता पर प्यार उमड़ आया जिसके दबाव में ही सही अनिच्छापूर्वक वह यहां चला आया था.

विनीता और उमेश ने पूरी आस्था से संगम स्नान किया. स्नान के बाद उमेश अजीब सी शांति महसूस कर रहा था. चलते-चलते उसने गंगा मइया को प्रणाम किया तो विनीता को उसमें आया यह परिवर्तन बड़ा सुखद लगा. वह उमेश के और करीब आ गयी और उसका हाथ पकड़ लिया. दोनों खामोशी से साथ-साथ चलने लगे.

'सुनो', उमेश ने खामोशी तोड़ी, 'पैदल चलते-चलते थक गयी होगी. कहीं बैठकर चाय पीते हैं.'

'चाय-नाश्ता सब होगा जी, पर चाचाजी के कैंप में चलकर. लगता है अब घर भागने के चक्कर में हो, पर आज तो मेरी ही चलेगी. बिना मिले जाऊंगी नहीं. सुनो, चाचाजी ने सारे इंतजाम कर रखे हैं. लंच भी वहीं होगा. सौरभ भइया भी आज आये हैं. उनसे व भाभी-बच्चों से भी मुलाकात हो जायेगी. चलते-चलते मैंने चाचाजी को फोन भी कर दिया था.'

'अरे...! मैं तो भूल-सा गया था. चलूंगा बाबा, आज का दिन तुम्हारे नाम...! अपनी जान से जान बचाना बड़ा मुश्किल होता है सच.' उमेश कुछ रूमानी हो उठा.

'धत्त...! बातें करना तो कोई तुमसे सीखे.' विनीता ने पुलकित होते हुए उमेश का हाथ खींचा तो वह और तेज चलने लगा.

'बड़ी जल्दी है जाने की, पर लोकेशन मालूम है कुछ, किधर कहां जाना है.'

'सब मालूम है मिस्टर ! बस, चुपचाप आज्ञाकारी पति की तरह चलते रहो.' विनीता कोयल-सी चहकी. उसका चहकना-फुदकना इस समय उमेश को अच्छा लग रहा.

❐❐❐

कल्पवासियों का सेक्टर शुरू हो गया था. पंडों के झंडे व निशान दिखने लगे थे. विनीता ने एक ज़गह खड़े होकर एक पंडे से कुछ पूछ-ताछ की और फिर उमेश की तरफ मुंह घुमा कर बोली, 'बस, समझो पहुंच ही गये.' अब विनीता को हल्की-हल्की थकान होने लगी थी. वह रेत व चकई प्लेटों पर काफी पैदल चल चुकी थी. पर चाचा से मिलने की खुशी विनीता की थकान पर भारी पड़ रही थी. उसका चहकना जारी था.

उमेश कल्पवासियों की जीवनचर्या का ज़ायजा लेता हुआ विनीता के साथ आगे बढ़ रहा था.

'विनीता यह कल्पवास होता क्या है...?' सब कुछ गहराई से जानते हुए भी उमेश ने विनीता को टटोला.

'मैं क्या जानूं...! कल्पवास, कल्पवास होता है...'

विनीता ने गरदन झटकते हुए कहा. इस बारे में कुछ भी न जानने के भाव उसके चेहरे पर उतर आये थे.

'यह तो कोई ज़वाब नहीं हुआ...!' उमेश ने मुसकराते हुए विनीता की आंखों में झांका.

'ओह उमेश...! यू नो माई जी. के. इज वेरी पुअर और फिर ये तो गूढ़-गंभीर धार्मिक मामले हैं. तुम्ही बता दो न, जानकारी हो जायेगी मुझे भी.' विनीता समझ गयी थी कि उमेश उसकी खिंचाई करने के मूड में है. इसलिए उसने समर्पण कर देने में ही भलाई समझी. विनीता की यह समर्पण वाली आदत उमेश को हमेशा अच्छी लगती थी.

'कल्पवास एक महीने की कठोर साधना होती है विनीता. बहुत नियम-संयम से पूरा एक माह गंगा तट पर रहना पड़ता है. यह एक माह तक चलने वाले किसी प्रशिक्षण जैसा कठोर नियम-संयम का काल होता है. इसे करते तो गृहस्थ हैं, पर इसे करते हुए किसी साधक-सा तपस्वी जीवन व्यतीत करना पड़ता है. इस अवधि में विषय-वासनाओं से विरत रहकर तन-मन को निर्मल बनाया जाता है तथा झूठ, दंभ, दर्प, अहंकार व माया-मोह से मुक्ति के रास्ते खोजे जाते हैं. माया-मोह, जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष की कामना की जाती है. कल्पवास में यह कायाकल्प, आत्म-शुद्धि व आत्म कल्याण का महत्वपूर्ण काल होता है. इसके द्वारा भोगवाद की प्रवृत्ति से छुटकारा पाना, भौतिकता व जीवन की आसक्तियों से उबर पाना संभव हो सकता है. यह एक मास अनूठी साधना व तप का होता है. जानती हो विनीता, एक माह के कल्पवास के बाद जब कल्पवासी वापस घर-गांव लौटता है तो उसे विशेष सम्मान मिलता है. लोग उसकी चरणरज लेकर खुद को धन्य समझते हैं.'

विनीता विस्मित-सी उमेश की बातें सुन रही थी. उसे यकीन नहीं हो पा रहा था कि सामान्यतः धार्मिक क्रिया-कलापों के प्रति आस्था न रखने वाले उमेश की पकड़ ऐसे गूढ़-गंभीर विषयों पर इतनी मजबूत है. उसे अधिकारपूर्वक किसी विद्वान उपदेशक-सा बोलता हुआ देखकर विनीता विस्मित, मगर गौरांवित महसूस कर रही थी.

'सच उमेश, ऐसे विषयों का तुम्हें इतना ज्ञान है मुझे नहीं मालूम था.' उमेश के चेहरे पर अपनी विस्मित दृष्टि टिकाते हुए विनीता बोली. उसकी छोटी, किंतु गहरी नीली आंखों में खुशी व उमेश के प्रति प्यार के मिश्रित भाव उतर आये थे.

बातों-बातों में वे दोनों कब चाचाजी के कैंप के करीब पहुंच गये थे पता ही नहीं चला. कैंप के बाहर एक महंगी विलायती कार खड़ी थी. चमचमाती कार के इर्द-गिर्द कुछ गंवई बच्चे खेल रहे थे. एक दूसरी कार भी खड़ी थी जिसे विनीता के चाचाजी ने रिटायरमेंट के बाद खरीदा था.

चाचाजी कैंप के द्वार पर ही इजी चेयर में पसरे सुबह का अंग्रेजी अख़बार पढ़ रहे थे. आहट होते ही उन्होंने निगाहें अख़बार से उठायीं. सामने विनीता और उमेश को खड़ा देखकर आंखों में प्रसन्नता के भाव उतर आये.

'अरे... शांति देखो तो कौन आया है...' अंदर से चाचीजी आ गयीं. विनीता दौड़कर उनसे लिपट गयी. सौरभ ने उमेश से हाथ मिलाकर 'हैलो' कहा, तो उमेश मुसकरा दिया. चाचाजी बड़े सम्मान व प्यार से दोनों को अंदर ले गये. कैंप में मौजूद भाभी व भतीजों से मिलकर विनीता और खिल उठी.

विनीता के इन चाचाजी से उमेश पहले भी मिल चुका था. वह कई बार उमेश को लखनऊ बुला भी चुके थे पर वह कभी जा नहीं पाया था. संपन्नता चाचाजी पर कुछ ज्यादा ही मेहरबान थी. सभी लड़के 'वेल सेटेल्ड', लड़कियां ऊंचे घरानों में ब्याही थीं. चाचाजी उच्च प्रशासनिक पद से रिटायर हुए थे. नौकरी के दौरान कई बार उन पर भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप भी लगे पर वह हमेशा बेदाग बरी हुए. इसे चाचाजी ईश्वर की कृपा मानते

थे. शायद इसी वज़ह से उनमें धार्मिक रुझान हमेशा बना रहा. जब-जब वह किसी आरोप से बरी होते एक मन लड्डू श्रीरामजी के मंदिर में चढ़ाते और गंगा स्नान ज़रूर करते. लखनऊ में ऐसी शानदार कोठी तामीर करवायी कि बस देखते बने. मिज़ाज से वह खुश और खुले हुए थे.

कैंप में प्रवेश करते ही उमेश भौंचक रह गया. ऐसा भव्य कैंप रेत पर भी तामीर हो सकता है उसे यकीन न होते हुए भी यकीन करना पड़ रहा था. उसके पैर बिछे हुए मखमली कालीन में धंस गये थे. कैंप के जिस सुसज्जित कक्ष में वह बैठा था वहां सुविधा और आराम की कौन सी चीज नहीं थी. उमेश ने पहली बार ऐसा सुविधासंपन्न भव्य कैंप देखा था.

विनीता कैंप के दूसरे कमरे में चाची, भाभी, भइया व भतीजों में इस कदर खो गयी थी कि उसे उमेश का खयाल ही नहीं था. चाचाजी उमेश के पास आकर सामने के सोफे पर बैठ गये थे. जल्द ही किचन से नौकर चाय बनाकर ले आया. ट्रे में कुछ स्नैक्स भी थे. नौकर ने सभी चीज़ें सलीके से मेज पर सजा दीं. फिर वह मिनरल वाटर की बोतल और दो गिलास ले आया. सामान मेज पर रखकर नौकर ज्यों ही जाने को पलटा, चाचाजी ने उससे पूछा, 'क्यों भाई, भोजन में कितना विलंब है.'

'सब तैयार है, साहब, जब कहेंगे लगा दूंगा.'

'ठीक है... ठीक है... बता देंगे. अभी तो हम गपशप करेंगे.' नौकर चला गया. लखनऊ से चाचाजी इस नौकर को भी कल्पवास के दौरान सेवा-सत्कार के लिए ले आये थे. इसके अलावा उनका बड़ा इंजीनियर बेटा अक्सर अपने सरकारी नौकरों को कई-कई दिनों के लिए पिताजी की सेवा के लिए भेज देता था.

चाय की चुस्कियों के बीच बातचीत शुरू हुई. 'उमेश बेटा, कैसा रहा स्नान ?'

'बहुत अच्छा...!' उमेश ने मुसकराते हुए कहा, 'पहली बार महसूस किया कि अपने देश में आस्था और विश्वास की जड़ें कितनी गहरी हैं. यदि यहां न आता तो बहुत कुछ खो देता. मैं तो आने से कतरा रहा था. भीड़-भाड़ से जरा डरता हूं. पर विनीता आपसे मिलने को बहुत इच्छुक थी. उसी ने दबाव डाला तो चला आया. आस्था के ऐसे प्रतिमान शायद ही किसी देश में देखने को मिलें चाचाजी. मैं तो 'संगम नोज' पर एक विकलांग को स्नान के लिए जाते देखकर चकित रह गया. बेचारा...! बैसाखियों के साथ घुसा जल में...! शायद सच्चे भक्त ऐसे ही होते हैं.'

चाचाजी मुसकरा दिये, 'अद्‌भुत समागम होता है यहां बेटा.'

'अच्छा चाचाजी, सुना है कल्पवास तो कठोर नियम-संयम का काल होता है. घास-फूस की कुटियों में रहकर तपस्वियों-सा जीवन व्यतीत करना पड़ता है, पूरा एक माह. दो बार स्नान और एक बार ही भोजन का विधान है. कुछ लोग तो तीनों पहर स्नान करते हैं. यह एक महीना तो भोगवाद की प्रवृत्ति व आत्म विकारों को दूर करने का होता है.' उमेश ने कक्ष में चारों ओर बिखरी भव्यता पर नज़र फेरते हुए कहा.

चाचाजी पारखी व अनुभवी व्यक्ति थे. उमेश की बातों में छिपे व्यंग्य को उन्होंने पकड़ लिया. वह अर्थपूर्ण मुसकान बिखेर कर बोले, 'होता तो बहुत कुछ है बेटा. अनेक शास्त्रीय विधि-विधान होते हैं. पर मुझसे ये सब होते कहां हैं. मैं तो बस यूं ही चला आया. पूरा एक माह यहां बड़ी रौनक रहती है. सोचा, मन बहल जायेगा.'

'गंगा मइया के प्रताप से कोई कमी नहीं है. बीच-बीच में बेटे-बहुएं, पोते-पोतियां मिलने आते ही रहते हैं. उनका भी मन बहल जाता है. यों समझो कि मन बहलाव व पुण्य-लाभ साथ-साथ हो रहा है.' चाय ख़त्म हो चुकी थी और नौकर आकर मेज साफ करने लगा था. चाचाजी क्षण भर को चुप हो गये थे. नौकर के जाते ही उन्होंने बात आगे बढ़ायी. 'तुम तो जानते ही हो, यह सब मुझसे कहां हो सकता है. अब तुमसे क्या छिपाऊं. जब जी आता है, शहर जाकर खा-पी आता हूं किसी अच्छे रेस्त्रां में. अक्सर शाम को तुम्हारी चाची को चौक ले जाता हूं रबड़ी खिलाने के लिए. मैं तो 'चेंज' के लिए यहां आया हूं. अब इसी बहाने धर्म-कर्म भी चलता रहता है. दो-तीन बार नहाने की कौन कहे... मैं तो पर्वों पर ही स्नान करने जाता हूं. कहते हैं वह अमृत स्नान होता है. बाकी दिनों यहीं नहाता हूं गर्म पानी से. हां, तुम्हारी शांति चाची भी मॉड हैं. खूब एंज्वाय करती हैं. बस ये समझो कि आध्यात्म व आनंद दोनों मिल रहे हैं.' चाचाजी ने इतना कहकर जोरदार ठहाका लगाया. उनका चेहरा लाल पड़ गया. इस उम्र में चेहरे पर ऐसी ललामी आम लोगों के चेहरों पर नहीं दिखती.

उमेश भी उनकी हंसी में शामिल हो गया. तभी चाचाजी ने विषय से हटकर उमेश से ऐसा सवाल पूछ लिया, जो अपेक्षित नहीं था. 'बेटा, एक बात बताओ...! मैंने सुना है, प्राइवेट कंपनियों में पैसे बहुत कम मिलते हैं. ऊपरी कमाई भी नहीं है. तुम्हें कोई तकलीफ...!' वाक्य अधूरा छोड़ दिया चाचाजी ने.

'हां, किसी हद तक बात आपकी ठीक है चाचाजी. पैसे-वैसे कुछ खास नहीं हैं, पर ऐसे भी कम नहीं हैं कि गुज़र-बसर में दिक्कत आती हो. ऊपरी का तो सवाल ही नहीं पैदा होता. यदि पैदा भी हो, तो अपना संस्कार व स्वभाव ऐसा नहीं है. सीमित आय में ही व्यवस्थित करना पड़ता है सब कुछ. पर सुकून भी है. पैसे के लिए ज्यादा हाय-हाय करने की आदत भी नहीं है मेरी. सब यहीं पड़ा रह जाता है. कुछ साथ नहीं जाता है.' उमेश का अंदाज़ दार्शनिक हो उठा.

'सो तो ठीक है बेटा, पर प्राइवेट नौकरियों में बस गुज़र-बसर ही हो पाती है.' चाचाजी ने उमेश को कुरेदा.

'आजकल सरकारी नौकरियां मिलती भी कहां हैं, चाचाजी...!' उमेश ने कुछ दबे स्वर में कहा.

'बात तो तुम्हारी ठीक है बेटा. सरकारी नौकरियां तो अब दुर्लभ की श्रेणी में आ गयी हैं. इस मामले में मेरे तीनों बेटे बड़े लकी रहे.' चाचाजी पुनः अपने परिवारिक वैभव व संपन्नता का बखान करने लगे.

'सौरभ, जिससे तुम अभी मिले थे इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी करने के बाद पी. डब्ल्यू. डी. में इंजीनियर हो गया. जानते हो, पी. डब्ल्यू. डी. जैसे विभागों के लिए लोग तरसते हैं. ऊपर का रोकड़ा बहुत है इस विभाग में,' चाचाजी अंगुली पर अंगूठा फेरते हुए मुद्रा गिनने की मुद्रा में आकर बोले, 'सिर्फ नौ साल की नौकरी है और क्या कुछ नहीं है उसके पास...! कार, बंगला, नौकर-चाकर, फार्म हाउस, बैंक बैलेंस... अपनी दो सालियों की शादियां पी. सी. एस. लड़कों से करवा चुका है. सारा खर्च उसी ने उठाया, वरना ससुराल वाले तो कंगले हैं उसके. भक्ति-भावना भी खूब है. हर संडे आता है यहां, अपनी विलायती कार से...' चाचाजी के चेहरे पर प्रसन्नता पसरती जा रही थी, 'कभी-कभी तो कहता है कि पापा इतना पैसा आता है कि समझ में नहीं आता कि क्या करूं.' कहते-कहते चाचाजी गदगद हो उठे. बेटे की ऊपरी कमाई भी उनके लिए पुण्य-लाभ जैसी प्रसन्नतादायक थी.

'सब गंगा मइया का प्रताप है बेटा...' चाचाजी ने प्रसन्नमुद्रा में बात आगे बढ़ाई. उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं था कि सामने वाले को उनकी बातों में कोई दिलचस्पी है भी या नहीं. वह आत्ममुग्धता की स्थिति में थे.

'मझला श्रीश भी कम मज़े में नहीं है. पी. सी. एस. क्वालीफाई कर गया. आजकल गाजियाबाद में एस. डी. एम. है. गाजियाबाद में तैनाती का मतलब तो समझते ही होगे. बड़े-बड़े पूंजीपतियों व उद्योगपतियों से संबंध हैं उसके. जो इच्छा करता है हाज़िर हो जाता है. इस कैंप की सारी व्यवस्था व साज-सज्जा उसी ने तो करवायी है. किसी सेठ को फोन कर दिया. आनन-फानन में सेठ के कारिंदे सब कुछ कर गये आकर.' इस बार स्वयं चाचाजी ने कैंप की भव्यता पर उमेश का ध्यान खींचा, 'श्रीश ने पूरे आठ सौ वर्ग गज़ का प्लॉट दिल्ली में ले रखा है. जल्द ही कांस्ट्रक्शन शुरू हो जायेगा.'

'ज़रूर-ज़रूर,' उमेश ने सहमति जतायी.

'छोटा हिमांशु तो समझो राज कर रहा है. उसने तो शादी के बाद सरकारी अस्पताल की नौकरी ही छोड़ दी. कानपुर में बहुत संपन्न घराने में ससुराल है उसकी. ससुर जी ने एक बड़ा सा नर्सिंग होम खुलवा दिया. मियां-बीवी दोनों मिलकर चला रहे हैं नर्सिंग होम. बीस जूनियर डॉक्टर हैं और डेढ़ सौ के करीब अन्य स्टाफ है. शहर का 'ए' क्लास का नर्सिंग होम है. पैसा तो जैसे बरस रहा है. इसके अलावा जांच-वांच करने वाले दूसरे सेंटरों से कमीशन बंधा है. बड़े-बड़े सेठ-साहूकार आते हैं उसके यहां इलाज करवाने. एक बार आयकर वाले रेड डाल चुके हैं.' 'रेड' की बात बताते हुए चाचाजी स्वयं को अत्यंत गौरवांवित महसूस कर रहे थे.

'गर्मियों में हिमांशु बहू-बच्चों के साथ स्वीट्ज़रलैंड जाता है छुट्टियां मनाने. उसे तो भगवान ने छप्पर फाड़ के दिया है. डॉक्टर बीवी है. घर की इकलौती है. समझो, सब कुछ हिमांशु का ही है. अगले संडे वह भी अपने ससुर-सास को स्नान कराने लायेगा.'

'घर जमाई को यह सब तो करना ही पड़ता है चाचाजी.' उमेश के मन में आया, पर उसने कहा नहीं. बस मुसकरा कर रह गया.

'जानते हो, जल्द ही हिमांशु एक और नर्सिंग होम तथा हार्ट पेशेंट्स के लिए एक अलग हार्ट हॉस्पिटल खोलने जा रहा है. कई करोड़ का प्रोजेक्ट है. सारी आधुनिक मशीनें अमरीका से मंगवा रहा है. मैं तो तृप्त हो गया हूं बेटों की तरक्की देखकर. सब गंगा मइया का प्रताप है बेटा.' चाचाजी ने गंगा की तरफ हाथ जोड़ दिये.

इससे पहले कि उमेश कुछ बोलता, अंदर से चाचीजी की आवाज़ आयी, 'अरे..., दामादजी को बातों में ही लगाये रहेंगे या खाना-वाना भी खिलायेंगे. चलिए भोजन लग गया है.' इसके बाद विनीता की खिलखिलाकर हंसने की आवाज़ आयी.

चाचाजी ने आंखों ही आंखों में उमेश को उठने का इशारा किया. दोनों हाथ धोने के लिए चल पड़े. उमेश ने हाथ धोये. नौकर ने उसकी तरफ बड़े अदब से तौलिया बढ़ाया. हाथ पोंछते हुए उमेश 'गंगा मइया के प्रताप' और ज़िंदगी के प्रति चाचाजी के फलसफे के बारे में सोच रहा था. 'संगम' पर नहाते विकलांग को वह भूल नहीं पा रहा था. बार-बार उसकी बैसाखियां उमेश की आंखों के सामने आ जाती थीं.

८० / ७८, खुशहाल पर्वत,
इलाहाबाद (उ. प्र.) - २११ ००३

जागरूक एवं प्रबुद्ध पाठकों की मासिक पत्रिका

शुभ तारिका

३० वर्षों से निरंतर प्रकाशित

साहित्य, समीक्षा, सूचना, विचार तथा मनोरंजन का अनुपम संचयन. रचनाकर्मियों एवं प्रबुद्ध जनों के लिए एक अनिवार्यता

एक प्रति १० रु ● वार्षिक १०० रु

आजीवन १००० रु

आजीवन सदस्य बनने पर १०० रु की पुस्तकें मुफ़्त

नमूना प्रति के लिए १० रु भेजें.

शुभ तारिका, कहानी-लेखन महाविद्यालय,
अंबाला छावनी-१३३ ००१ (हरि.)

कहानी

जूनी झूठ नहीं बोलती

लेखु ने रुआंसे स्वर में पूछा, "तुमने मेरा खिलौना क्यों ख़राब कर दिया ?"

प्रिंस दबे हुए भय में कुछ देर उसे देखता रहा, फिर साहस और दंभ में भरकर बोला, "हां, ख़राब कर दिया, मर्ज़ी थी मेरी, तू कुछ करेगा मेरा ?"

लेखु उसके अंतिम शब्दों पर बार-बार सोच रहा था कि वह उसका क्या बिगाड़ सकता है ! कुछ नहीं. वह न तो उसे मार सकता है, और न ही अपना खिलौना ठीक करवा सकता है, महज़ शिकायत कर सकता है. परंतु लेखु का विश्वास अब शिकायत पर से उठ चुका है. वह शिकायत भी नहीं करेगा.

प्रिंस की इस बार की इस शरारत से लेखु बहुत गुस्सा हो गया. उसने ठन ली कि अब वह मां के पास गांव चला जायेगा. शाम को डॉ. साहब आयेंगे, तो वह उन्हें कह देगा कि उसे गांव मां के पास छोड़ आयें. वह प्रिंस की ऐसी ढिठाई से तंग आ चुका है.

लेखु रात तक रूठा हुआ कोने में दुबका बैठा रहा. उसने न तो घर का कोई काम किया और न ही खाना खाया.

रात को डॉ. साहब जब थके हारे घर लौटे तो उनकी पत्नी ने बताना शुरू कर दिया, "ये ज़रा लेखु को देख लो. आज न तो इसने कोई काम किया और न खाना खाता है, इतनी बार पूछ चुकी हूं कि क्या हुआ ? वो है कि ढीठ जैसा मुंह बनाकर वहां बैठा है. तुमने बच्चा-बच्चा कहकर ही उसे सिर चढ़ा रखा है, इसी का नतीज़ा है कि वो अपने को नौकर नहीं समझता. अब तुम ही जाकर उसका मुंह खुलवाओ."

डॉ. साहब सोफ़े पर पसर गये तथा पुकारा, "लेखु ! ओ लेखु ! इधर आ जा, बता क्या हुआ ?"

कोई प्रत्युत्तर नहीं आया.

पत्नी बोली, "ऐसे नहीं सुनेगा, दो-चार गाल पर कस-कसकर दो, तो अभी बोलेगा."

पत्नी को अनसुना करते हुए डॉ. साहब उठकर चले. लेखु पिछली गैलरी की सीढ़ी के पास उकड़ू बैठा था. उसने चेहरा उठाकर देखा. फिर चुप नीचे ताकने लगा.

डॉ. साहब ने पूछा, "लेखु, क्या हुआ ? चल अंदर."

लेखु उदासीन बैठा रहा.

"लेखु ! सुना नहीं तुमने ?"

वह चुप था.

डॉ. साहब को अंदेशा हुआ कि अवश्य कुछ ऐसी बात हो गयी, जिसके कारण वह ख़ूब नाराज़ है. अतः बजाय डांट-फटकार के, उन्होंने पुचकारकर ही कहा, "लेखु, अंदर आ जाओ, मुझे बताओ, आख़िर हुआ क्या ?"

लेखु की आंखों में विद्रोह पसरा हुआ था. वह लगभग घूर रहा था.

डॉ. साहब बोले, "देखो लेखु, मैं बहुत थका हुआ हूं, तुम ऐसे चुप रहोगे, तो कैसे चलेगा. बताओ क्या हुआ ? प्रिंस ने कुछ कह दिया ?"

राजीव सिंह

प्रिंस का नाम डॉ. साहब के मुंह से सुनते ही उसने उचककर देखा और एकाएक उठकर उनके पास आया तथा रोते हुए बोल दिया, "मुझे मां के पास गांव छोड़ आओ."

डॉ. साहब को थकान की वज़ह से ही गुस्सा आ गया, डांटते हुए बोले, "साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताता कि क्या हुआ ?"

डांट सुनकर लेखु कुछ बिदक गया. उसके छोटे पांव तेज कदम कहीं जाकर लौट आये. उसने वो ख़राब खिलौना डॉ. साहब को दिखाकर सिसकते हुए कहा, "साहब, प्रिंस ने इसे ख़राब कर दिया. उसने चोरी करके मेरे बक्से में से इसे निकाल लिया था."

डॉ. साहब सारी बात समझ गये. उनका गुस्सा दूसरी तरफ़ पलट रहा था. उन्होंने पुकारा, "प्रिंस !"

प्रिंस दूसरे ही पल आ गया, बोला, "जी डैडी !"

"तुमने लेखु का खिलौना उसके बक्से में से निकालकर ख़राब किया ?"

प्रिंस अपने अपराध-बोध में जकड़ा खड़ा था. उसका मन हुआ कि मुकर जाये, वह कहने लगा, "डैडी, वो मैं..."

डॉ. साहब ने खींचकर उसके गाल पर थप्पड़ मारा, "मैंने तुम्हें उस दिन भी मना किया था कि लेखु की किसी चीज़ को मत छूना, पर तुमने उसका खिलौना निकालकर ख़राब कर दिया. अब तुम ठीक करोगे इसे ?"

प्रिंस के आंसू देखकर लेखु को जहां मानसिक शांति मिली, वहीं उसे अफ़सोस भी हुआ. उसका गुस्सा जाता रहा. वह अंदर आ गया.

डॉ. साहब फिर सोफ़े पर आ बैठे. सहसा लेखु का कहा वाक्य याद आ गया- 'साहब, मुझे गांव मां के पास छोड़ आओ.'

डॉ. साहब का पुश्तैनी घर गांव में ही है. जब भी वहां जाते हैं तो गांव वाले बीमारी और दवा पूछने आ ही जाते हैं. इन्हीं में लेखु की मां को टी. बी. के लक्षण बताये थे. छूत की बीमारी होने के कारण लेखु के पिता ने प्रस्ताव रखा था कि यदि डॉ. साहब लेखु को अपने साथ शहर ले जाना चाहें तो वो वहां बच भी जाये और कुछ काम-कमाई कर लेगा. पत्नी से सलाह लेकर लेखु को शहर साथ ले जाने की बात जम गयी; क्योंकि घर में कामकाज के लिए नौकर की ज़रूरत तो थी ही, इसीलिए वह शहर चला आया था.

डॉ. साहब ने देखा कि लेखु अपने बिस्तर पर चला गया. उसने ख़राब खिलौना निकाला और उसे दुरुस्त करने में लग गया. डॉ. साहब अपने में ही उसकी प्रशंसा करते हैं कि दस-बारह साल की इस छोटी-सी आयु में ही वह अपने हाथ से कोई खिलौना बना लेता है. उन्हें अच्छा लगता है. उन्होंने अक्सर देखा है कि प्रिंस उसके बनाये खिलौने से खेलने में ही अधिक रुचि लेता है, क्योंकि वे अन्य खिलौनों से अधिक आकर्षित करते हैं. खेलते-खेलते किसी बात पर नोक-झोंक हो जाती है, तो प्रिंस उसके बनाये खिलौने ले लेता है या ख़राब कर देता है. डॉ. साहब ने प्रिंस को कई बार डांटा भी है.

पिछले दिनों ही लेखु ने एक नया खिलौना बनाया था - दर्ज़ी के पास जो लकड़ी की घिर्री जैसा पुर्जा होता है; जिसमें धागा लिपटा रहता है, इसी से बनाया था यह नया खिलौना. इसके लिए मोमबत्ती का एक गोल भाग, एक कील, एक रबड़ तथा एक साधारण छोटी डंडी की आवश्यकता पड़ती है, जिसे कुछ छोटे प्रयत्नों के बाद लेखु ने जोड़ लिया था, और बना दी थी एक चलती हुई गाड़ी, जो क्रेन की तरह अपनी डंडी को आगे से पीछे भी फेंकती थी. इन्हीं आकर्षणों के लिए पड़ोस के प्रो. साहब की छोटी बिटिया - जूनी भी यहीं खेलने आ जाती है. प्रिंस व जूनी को लेखु के बनाये गये खिलौने अपनी 'टॉय कबर्ड' में भरे पड़े रॉबोट, कारों, रॉकेट आदि से कहीं अधिक आकर्षित करते हैं. जूनी बहुत ही कम लेखु से लड़ती या नाराज़ होती है, लेकिन प्रिंस की उद्दंडता से अक्सर ख़फ़ा रहती है.

यही वो खिलौना था, जिसे पा जाने के लिए प्रिंस ने भरसक प्रयत्न किये थे. परंतु जूनी ने लेखु को कड़े निर्देश दे रखे थे कि वह प्रिंस को न तो यह मोम वाली गाड़ी देगा, न ही उसके लिए दूसरी बनायेगा. यदि लेखु ऐसा करता है तो वह उसके लिए जो भी खाने का सामान चुपचाप अपने घर से ले आती है, वो नहीं लाया करेगी. सब कुछ को मिलाकर लेखु ने साथ खेलते हुए मोम वाली गाड़ी प्रिंस को हाथ लगाने को तो दी, परंतु वो उसकी हो जाये या उसको नयी बना कर दी जायेगी, ऐसा करने

४ अगस्त १९६४, सुंदर नगर (हि. प्र.);
एम. ए. (हिंदी)

प्रकाशन : *'उनके आईने' तथा 'लम्हाभर ज़िंदगी' कहानी संग्रह प्रकाशित.*

संप्रति : *एक स्वयं-सेवी संस्था से संबद्ध एवं कार्यरत.*

की हामी लेखु ने कभी नहीं भरी.

जब प्रिंस को यह पता चला कि जूनी दो-तीन बार लेखु से मांगकर मोम वाली गाड़ी को अपने घर ले जा चुकी है, तो उसने उन्हें डराकर गाड़ी को पा लेना चाहा.

प्रिंस ने पूछा था, "लेखु, तुम्हारी गाड़ी कहां है ?"

लेखु डर गया, क्योंकि पिछली शाम ही उसने गाड़ी जूनी को दे रखी थी. वह चुप रहा, फिर कह दिया, "मेरे बक्से में."

"झूठ ! वहां नहीं है."

लेखु का इतना साहस नहीं हुआ कि उससे पूछे कि उसे कैसे पता है कि गाड़ी उसके बक्से में नहीं है ?

"वहीं है, मैंने कल वहीं रखी थी." लेखु ने पक्ष दिया.

प्रिंस ने धमकाया, "मैं अभी मम्मी को बताऊंगा कि तूने वो जूनी को दे दी है."

लेखु डर गया; इसलिए कि मेम-साहब ने कड़े निर्देश दे रखे हैं कि घर की कोई चीज़ बिना आज्ञा के बाहर नहीं जायेगी. लेखु इस बात का अनुमान भी नहीं लगा पाता कि घर की चीज़ों में उसके अपने खिलौने भी शामिल हैं या नहीं. वह तो महज़ डरता है - डांट और पिटाई से भी.

लेखु बोल रहा था, "नहीं प्रिंस मैंने उसे नहीं दी, वो मेरे पास है."

"तेरे पास है तो मुझे दिखा."

"मुझे अभी काम करना है." उसने अपने काम को ही बहाना बनाकर प्रयोग किया.

प्रिंस इसी बात से ख़फ़ा हो रहा था कि कई बार मांगने पर भी लेखु ने एक बार भी वो गाड़ी उसे नहीं दी, परंतु जूनी उसे खेलने के लिए अपने घर ले जाती है ! प्रिंस ने तो अपना रॉबोट तक उस गाड़ी के बदले दे देने तक का प्रस्ताव रख दिया

था. परंतु रॉबोट को लेकर लेखु कहां रखेगा ? कई बार लालच ने तो घेरा था, परंतु डर की वज़ह से ही प्रिंस का खिलौना अदला-बदली नहीं किया था.

प्रिंस इसी बात पर सबसे अधिक सोचता है कि वह अभी तक मोम वाली गाड़ी बनाना नहीं सीख पाया है, तथा जूनी शायद सीख जायेगी, और तब वे दोनों उसे चिढ़ायेंगे. हालांकि प्रिंस और जूनी के पास अपनी स्कूल की 'क्रिएटिव आर्ट बुक' है, परंतु जैसा कागज़ का जहाज़ लेखु बना देता है, वैसा वे दोनों भी मिलकर नहीं बना पाते; बनाने का अभिप्राय उसकी संतुलित उड़ान से ही है.

परसों की ही बात है कि प्रिंस ने अपने गुप्त सूत्रों से जान लिया था कि जूनी ने ही मोम वाली गाड़ी उसे देने के लिए मना कर रखा है. प्रिंस नहीं चाहता कि जूनी लेखु का खिलौना लेकर अपने पास रखे, वह खिसियाता है. यही खिसियाहट जूनी पर तो नहीं, परंतु लेखु पर ही खेलते समय निकलती है.

प्रिंस ने अपने रॉबोट को चालू कर दिया. रॉबोट मानव की तरह चलने लगा. लेकिन उसकी चाल से किसी को मज़ा ही नहीं आता. शुरू के दिनों वाला आनंद अब नहीं है. जूनी ने भी अपनी गुड़िया को डॉल-हाउस में आराम करने के लिए बैठा दिया. लेखु ने अपनी मोम वाली गाड़ी में रबड़ के बल चढ़ाये. गाड़ी चलने लगी. चलने क्या लगी, मानो मिनी क्रेन कार्य करने का पूरा संघर्ष कर रही हो. रबड़ के बल जब धीरे-धीरे खुलते हैं, जिससे गाड़ी के चलने में शक्ति का संचार होता है, वही है उनके खेल की मौलिकता, वर्ना चाबी और बैटरी वाली कारों, गाड़ियों आदि में वो बात कहां!

प्रिंस ने कहा, "जूनी, लेखुमल की गाड़ी को हाथ मत लगाना."

"क्यों ?" जूनी ने आश्चर्य किया.

प्रिंस ने होंठों को ऐसे सिकोड़ा मानो किसी गंदी चीज़ को देखकर घिनिया रहा हो, बोला, "छिः, इसकी मां को एक गंदी बीमारी है, वो बिस्तर में पड़ी हुई उल्टियां करती है, मैं तो इसकी किसी चीज़ को हाथ तक नहीं लगाता."

सभी के बीच यह एक बहुत बड़ा रहस्य था, जो खुल रहा था. लेखु बिन कुसूर के पिटा हुआ-सा इधर-उधर ताकने लगा था. उसकी दयनीय हालत को सांत्वना देने के लिए जूनी ने पक्ष लिया, "हम तो लगायेंगे हाथ, तुम झूठ बोलते हो."

"मैं कभी झूठ नहीं बोलता." प्रिंस बोला.

जूनी को तत्काल उसका एक झूठ याद आ गया. बोली, "अच्छा ! उस दिन तुमने कहा नहीं था कि तुम्हारे मम्मी-पापा लड़ाई नहीं करते ? और तुम्हारी मम्मी वो वाला ड्रिंक नहीं पीतीं, जो तुम्हारे पापा पीते हैं ?"

प्रिंस को तत्काल याद आ गया कि उसका झूठ जूनी द्वारा ही पकड़ा गया था. उसने तर्क दिया, "वो तो मैंने ऐसे ही कह दिया था. लेकिन अब मैं सच बोल रहा हूं, चाहे तो मेरे डैडी से पूछ लेना, वो तो डॉक्टर हैं, उन्होंने ही गांव में एक दिन इसके बापू को बताया था कि इसकी मां ज़ल्दी मर जायेगी, क्योंकि उसको एक गंदी बीमारी है. छिः मैं तो इसके हाथ की छुई कोई चीज़ भी नहीं खाता."

जूनी ने आड़े हाथ लिया, "तो फिर तुम रोटी क्यों खाते हो, आटा तो लेखु ही गूंधता है न तुम्हारे घर का ? है न लेखु ?"

"तो और क्या !" लेखु ने हामी भरी.

एक नकली हंसी के बाद तीनों फिर मुद्दे से आ जुड़े.

प्रिंस अंदर चिढ़ रहा था कि जूनी क्यों उसकी बात को काट रही है ?

उसे याद है कि कुछ समय पहले प्रिंस ने खेल के बीच जूनी की फ्रॉक पीछे से आकर उघाड़ दी थी और उसकी पैंटी नीचे खींचकर बाहर भाग गया था. जूनी ने रोते हुए उसकी मम्मी से उसकी इस हरकत की शिकायत कर दी थी. इस पर उसकी मम्मी ने खींचकर उसे एक चपत लगायी थी. तब से वह ऐसी शरारत नहीं करता, परंतु उस बात का अनुमान अवश्य लगाता है कि इस तरह की बातों से मम्मी-पापा बहुत गुस्सा करते हैं और पीट भी देते हैं. यही वज़ह रही कि उसने अपना एक और पांसा फेंका, "जूनी ! तू क्यों बीच में बोलती है ? चल इस सड़े हुए लेखुमल के साथ मत खेला कर, इसके सिर में तो जुएं भी पड़े हैं."

जूनी ने विरोध किया, "नहीं, तुम हमेशा उसे पिटवाने के लिए ही सोचते हो, वो तो बेचारा सीधा है."

प्रिंस ने मुंह बनाते हुए कहा, "बड़ा सीधा है बेचारा, और तू भी बड़ी सीधी है !" आंखें जासूसों की तरह घुमाते हुए वह बोल दिया, "तुम क्या समझते हो कि मुझे कुछ नहीं पता ?"

"क्या ?" दोनों साथ बोले.

"मैं इसकी भी और तेरी भी शिकायत लगाऊंगा कि तुम दोनों वहां उस कबड़ के पीछे एक गंदी बात करते हो."

प्रिंस ने कहा तो दोनों सन्न रह गये. वे दोनों उसके झूठ से इसलिए डर रहे थे कि कहीं उसकी बात को सच न मान लिया जाये.

जूनी ने उसके चेहरे को भांपा और कहा, "तू हमारी झूठी शिकायत लगायेगा न ! लगा. हमें भी तेरी एक बात पता है. है न लेखु ?"

लेखु ने फिर डरी हुई-सी हामी भरी.

"क्या ?" प्रिंस ने उत्सुकता में पूछा.

"हम क्यों बतायें अभी. जब तू हमारी शिकायत लगायेगा, हम भी तेरी वो वाली शिकायत लगा देंगे."

यह सुनकर प्रिंस असमंजस में था कि उनकी झूठी शिकायत लगा पायेगा या नहीं ?

❐❐❐

जब डॉ. साहब ने प्रिंस को लेखु का खिलौना ख़राब करने पर थप्पड़ मारा था, तो वह मम्मी की गोद में रोता रहा था. इधर लेखु खिलौने को निकालकर ठीक कर लेने के जुगाड़ में डटा था. उसने बहुत जुगाड़ लगाया, परंतु खिलौना मरम्मत नहीं हो पाया. कारण यही रहा कि प्रिंस ने गुस्से में आकर खिलौने में प्रयुक्त एक कील को पूरी तरह अंदर ठोंक दिया था, जिस वज़ह से लकड़ी के उस पुर्जे में दरार आ गयी थी.

अगले दिन जूनी ने अपने घर से लकड़ी जोड़ने वाला पदार्थ भी लाकर दिया, जिसे उपयोग में लाया गया, परंतु पुर्जे में प्रयोग आने वाली दूसरी कील जब ठोंकी गयी, तो दरार फिर चटख गयी. कई जुगाड़ों के बाद पुर्ज़ा चलने लायक हो गया. चलता भी था, परंतु उसमें वो मज़ा नहीं रह गया था, क्योंकि जहां से लकड़ी फट गयी थी, वहां खिलौने की चाल में लंगड़ापन आ गया था. जूनी इतने पर भी खुश थी, परंतु लेखु बिलकुल भी संतुष्ट नहीं था.

❐❐❐

प्रिंस की मम्मी ने डॉ. साहब को स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि वह लेखु को यहां नहीं रखेंगी; कारण यही कि अब वह छोटी-छोटी चोरियां करने लगा है तथा उसकी वज़ह से प्रिंस ज़िद्दी होता जा रहा है. मेम साहब को यह भी गुस्सा था कि उनके कहने पर भी लेखु ने वो मोम वाली गाड़ी प्रिंस को नहीं दी थी. छुटपुट वज़हों को उन्होंने गांठ बांधकर डॉ. साहब को थमा दीं तथा लेखु को इस दीवाली पर वापस भेजने के लिए राज़ी कर लिया.

खिलौना गाड़ी अभी तक वैसी ही थी, परंतु तीनों का समझौता हो चुका था. न तो प्रिंस ने उन दोनों की झूठी शिकायत की थी, और न ही अभी तक जूनी ने प्रिंस के कई बार पूछने पर उसे यह बताया था कि उन्हें उसकी कौन सी बात पता है, जिसे वे भी शिकायत बना सकते हैं.

दीवाली पर लेखु गांव जायेगा. मां को बताने के लिए उसके पास ढेर-सी बातें जमा हो गयी हैं. मां को वह बतायेगा कि डॉ. साहब बहुत अच्छे हैं, उसे प्यार करते हैं, परंतु मेम साहब उसे अच्छी नहीं लगतीं; डांटती और मारती भी हैं. वह मां को बतायेगा कि डॉ. साहब और जूनी के घर में एक ऐसी अलमारी (फ्रिज) है, जिसमें चीज़ें खूब ठंडी रहती हैं. जूनी बर्फ़ में चीनी डालकर उसके लिए लाती है तथा एक ऐसा स्वादी काला पानी लाती है, जिसे पियो तो डकारें आती हैं. वह मां से पूछेगा कि उसने प्रिंस के सामने कब गंदी उल्टी की थी ? वह मां से यह भी पूछेगा कि वह कब तक मरेंगी; क्योंकि प्रिंस ने कहा था कि उसकी मां जल्दी ही मर जायेगी. लेकिन वह मां को यह भी बतायेगा कि जूनी कहती है कि प्रिंस बहुत झूठ बोलता है.

कल सुबह लेखु गांव चला जायेगा, इसी कारण जूनी ने दोपहर बाद इस साल की सबसे बड़ी चोरी कर ली है, जिसमें दो कोन आइसक्रीम के थे, एक कटोरा जैली का तथा वही काला पेय. तीनों ने मिलकर बाहर गैलरी की सीढ़ी के पीछे प्रीति भोज कर लिया था. प्रिंस भी खुश था, परंतु उसे यही एक संदेह हो रहा था कि लेखु गांव जाने से पहले अपनी खिलौना गाड़ी जूनी को दे जायेगा, बेशक वो ख़राब है, फिर भी वह नहीं चाहता कि जूनी उस गाड़ी को ले ले.

जूनी की मम्मी ने उसे पुकारा. जाने से पहले वह लेखु से बोली, "लेखु, जब तक तुम गांव में रहोगे, तब तक के लिए वो गाड़ी मुझे दे दो. जब तुम वापस आओगे, मैं तुम्हें इसे लौटा दूंगी, सच्ची बोल रही हूं." कुछ रुककर उसने स्पष्ट किया, "तुम चाहो तो मेरी यह गुड़िया प्रिंस की कबर्ड में रखवा दो, यदि मैं तुम्हारी गाड़ी वापस नहीं करूं, तो मेरी गुड़िया भी मत देना."

प्रिंस ने आंखें बड़ी करके सुझाव दिया, "हां लेखु, इसकी गुड़िया रख ले. अगर ये तेरी गाड़ी तोड़ भी देगी, तो भी इसकी गुड़िया वापस मत करना."

लेखु मुक्त हंसी हंसा, फिर बोला, "लेकिन मैंने तो वो गाड़ी कब की तोड़ डाली."

जूनी हैरान थी, माथे पर परेशानी खींचती हुई बोली, "तुमने खिलौना क्यों तोड़ दिया ?"

लेखु ने स्पष्ट कर दिया, "क्योंकि वो ठीक नहीं हो रहा था. लेकिन कोई बात नहीं, मैं तो नया भी बना सकता हूं."

जूनी ने रुआंसा चेहरा बनाकर कह ही दिया... या कि उसके अंदर से फूट गया, "तुम मुझे ही दे देते, तोड़ने की क्या पड़ी थी ?"

लेखु फिर हंसा, बोला, "जूनी, जब मैं गांव से लौटूंगा, तो तुम्हारे लिए उससे भी अच्छी गाड़ी, नयी बनाकर लाऊंगा."

जूनी ने गुस्से को उगला, "झूठ बोलते हो तुम."

प्रिंस दोनों की बातों के बीच बौखलाया-सा इधर-उधर ताक रहा था.

लेखु ने अपने बापू की तरह गले पर उंगलियों का झुरमुट बनाकर रखते हुए कहा, "मां की कसम है, तुम्हारे लिए नयी गाड़ी बनाकर लाऊंगा."

जूनी ने अंतिम भड़ास निकाली, "यदि तुम नयी गाड़ी बनाकर नहीं लाये, तो जितनी चीज़ें तुमने हमारी खायी हैं, वो सब वापस करनी पड़ेंगी, नहीं तो तुम्हारी शिकायत लगा देंगे हम दोनों."

"हां." प्रिंस ने अपनी बौखलाहट में हामी भरी.

लेखु ने गर्व से कहा, "मैं एक नहीं, तीन गाड़ियां बनाकर लाऊंगा. एक मेरी, एक तुम्हारी, और एक प्रिंसमल की."

प्रिंस का नाम 'प्रिंसमल' सुनकर तीनों खूब हंसे, उनकी हंसी सुनकर मुक्त खुला आकाश और भी खिल रहा था.

❐❐❐

शाम होते-होते लेखु अपनी बात से मुकर गया. उसने प्रिंस को स्पष्ट कर दिया कि वह उसके लिए नयी गाड़ी नहीं बनायेगा. इस बात की भी शिकायत प्रिंस ने अपनी मम्मी से कर दी, जिस वज़ह उसे डांट तथा मार दोनों का ही सामना करना पड़ा था. और वह रूठ हुआ सीढ़ी के कोने में जा बैठ था.

डॉ. साहब काम से लौटे तो प्रिंस ने अपनी बात सामने रखी. रात खाने से पहले तक लेखु वहीं रूठ हुआ बैठ था. डॉ. साहब ने उसे पुकारा, "लेखु ! चल आ जा, खाना तो खा ले."

हर बार की तरह डॉ. साहब को ही उसके पास जाना पड़ा, वह बोले, "उठ लेखु, खाना खा ले, फिर बाद में प्रिंस के लिए वैसी नयी गाड़ी बना देना, मैं सारा सामान लाकर दे दूंगा."

प्रिंस का नाम सुनते ही उसकी आंखों में विरोध के अंगारे जलने लगे, वह बोला, "मैं कभी भी इसके लिए वैसी गाड़ी नहीं बनाऊंगा, मेरी झूठी शिकायत इसने अपनी मम्मी को लगा दी."

"कौन सी शिकायत ?" डॉ. साहब ने पूछ लिया.

"यही कि मैं और जूनी उस कबर्ड के पीछे एक गंदी बात करते हैं. मैंने कब की ?"

प्रिंस किसी भय में बंधा हुआ उसे देख रहा था, उसने पांसा फेंका, "की नहीं थी ! मैंने देखा था."

"कब ?"

"एक दिन."

"क्या किया था ?" डॉ. साहब ने टोंककर प्रिंस से पूछ लिया.

वह असमंजस में कुछ देर फंसा खड़ा रहा, फिर उसने बताने का प्रयत्न किया, "इसने ऐसे किया था."

वह बताना चाहता था कि वे दोनों आलिंगन की मुद्रा में खड़े थे.

"अच्छा ! इतनी तो वहां ज़गह भी नहीं है." लेखु ने अपने सत्य को अधिक शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से स्पष्ट किया.

डॉ. साहब ने पूरी बात का अनुमान लगा लिया कि यह सिर्फ़ उनकी आपसी रंजिश का परिणाम है. हालांकि कबर्ड के पीछे सच में इतनी ज़गह नहीं थी कि दो बच्चे खड़े भी हो सकें.

प्रिंस हैरान था कि यदि लेखु के पास उसकी कोई शिकायत है, तो उसने मम्मी से भी नहीं कही थी, न ही डैडी से कह रहा था. मेम साहब की डांट-मार ने उसे इस स्थिति पर पहुंचा दिया था कि वह प्रिंस के लिए नयी वाली गाड़ी बनाने को बिलकुल तैयार नहीं था. वह जानता था कि इसे बनवाने के लिए प्रिंस एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा देगा, इसीलिए वह दर्जी से धागे की घिर्री मांग लाया था.

प्रिंस की ज़िद पर डॉ. साहब ने लेखु को पुचकारकर कहा, "लेखु बेटे, बना दो प्रिंस के लिए गाड़ी."

लेखु घूर रहा था.

"अच्छा मैं तुम्हें उस कबर्ड वाली बात के लिए कुछ भी नहीं कहूंगा."

लेखु की आंखों में प्रिंस के प्रति घोर रोष झलक रहा था.

"अच्छा ठीक है, तुम मुझे बता दो कि कैसे बनाते हैं, तो मैं मिस्त्री अंकल से बनवा लूंगा."

लेकिन लेखु गर्वीली चुप आंखों से देख रहा था, मानो कह रहा हो मिस्त्री अंकल भी वैसी गाड़ी नहीं बना पायेंगे.

"देखो लेखु, कल तो तुम चले जाओगे, तुम्हारी एक निशानी प्रिंस के पास रह जायेगी, जो भी तुम्हारी बनाई हुई गाड़ी देखेगा, वो तुम्हारी कितनी तारीफ़ करेगा."

लेखु मानो प्राचीन बुत था, जिसके सामने डॉ. साहब याचना कर रहे थे.

डॉ. साहब का साहस टूटता जा रहा था.

"लेखु ! ये तो बड़े गर्व की बात है कि तुम ऐसी गाड़ी बना लेते हो, जिसे कोई बच्चा नहीं बना सकता, यहां तक कि मैं भी नहीं बना सकता, न ही मिस्त्री अंकल. चलो शाबाश, प्रिंस के लिए एक गाड़ी निशानी के तौर पर बना दो."

लेखु को प्रिंस की मम्मी के वे थप्पड़ और घूंसे याद आ रहे थे, जो आज शाम उसे पड़े थे. उसका जी जलने लगा, उसने बुदबुदाते हुए कह दिया, "नहीं."

डॉ. साहब का आवेश उछला, "लेखु, ज़्यादा नख़रे मत करो. हम कह रहे हैं, बना दो, तो बना दो, बस."

लेखु चुप दृढ़ खड़ा था.

"मैं तुम्हें बाहर निकाल दूंगा. देखना, वो पीपल के पेड़ वाली चुड़ैल रात को आयेगी, फिर मैं दरवाज़ा नहीं खोलूंगा. अब सोच लो, मर्ज़ी तुम्हारी."

लेखु तो मानो सोचकर ही खड़ा था. उसकी ढिठाई देखते हुए डॉ. साहब ने अपना संतुलन खोते हुए अंतिम बार पूछा, "लेखु तुम बना रहे हो, या नहीं ?"

"नहीं."

डॉ. साहब ने सहसा एक थप्पड़ लेखु के गाल पर जड़ दिया और उसे खींचते हुए दरवाज़े तक ले गये. शायद उनके मन में लेखु के प्रति कुछ शेष बच रहा था, इसीलिए उन्होंने उसे बाहर नहीं, अपितु वहीं दरवाज़े के पास धकेल दिया और बोले, "तुम आज रात यहीं सोओगे."

प्रिंस की तरफ़ बढ़ते हुए चीखे, "तुम्हारे पास दुनिया भर के खिलौने हैं, तुम्हें भी सिर्फ़ वही घटिया-सस्ता खिलौना चाहिए !"

प्रिंस बौखलाया हुआ सुन रहा था, डॉ. साहब चिल्लाये, "जाओ अपने कमरे में और सो जाओ."

वह सिर के बल भाग खड़ा हुआ.

मेम साहब को अब इस संदर्भ में अधिक रुचि नहीं थी, क्योंकि टी. वी. पर उनका प्रिय सीरियल आ रहा था.

❐❐❐

गांव से डॉ. साहब के मुनीम कुछ काग़ज़ वग़ैरह लेकर आये थे. औपचारिक बातों के निपटने के बाद डॉ. साहब गांव का हालचाल पूछने लगे. इसी बीच मुनीम ने एक डिब्बा उनकी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा, "साहब, ये गंगा राम, वो लेखु का पिता, उसने आते समय मुझे दिया था. कहा था कि लेखु ने इसमें कुछ बांधा है, आप देख लें."

डॉ. साहब ने बे-ढंग से बंधे डिब्बे को खोला. अंदर दो खिलौना गाड़ियां थीं. देवनागरी लिपि में लिखी दो पर्चियां भी अंदर पड़ी थीं, जिन पर लिखा था - 'जूनी', 'प्रिंस'. डॉ. साहब को सहसा वो रात याद हो आयी, जब लेखु ने ऐसी गाड़ी को न बनाने की ज़िद पकड़ ली थी, और रात दरवाज़े के पास ही सोकर बिता दी थी.

तभी डॉ. साहब ने पूछ लिया, "लेखु की मां की तबीयत कैसी है अब ?"

मुनीम कुछ हैरानी में देखता हुआ बोला, "साहब, आपको पता नहीं चला क्या ? वो तो लेखु के यहां से जाने के दूसरे दिन बाद ही चल बसी थी. यूं समझ लो, बेटे का मुंह देखने के लिए ज़िंदा थी."

डॉ. साहब को मानो विद्युत छू गयी हो. अफ़सोस के सन्नाटों में कैद वे सोच में डूब गये.

अगले दिन शाम को डॉ. साहब जब लौटे, तो जूनी ने अपनी शिकायत रुआंसे स्वर में उनके सामने रखी, "अंकल, प्रिंस ने मेरी वो वाली गाड़ी तोड़ दी."

"कौन सी ?"

"वही, जिसे लेखु ने बनाकर मुझे भी भेजी थी."

डॉ. साहब चकित थे, सहसा उनके होठों से शब्द फूटा, "क्यों !"

जूनी बताने लगी, "प्रिंस बोल रहा था कि लेखु की मां को एक गंदी बीमारी थी, इसीलिए वो मर गयी. यदि हम लेखु की बनाई किसी भी चीज़ को छुयेंगे, तो हम भी मर जायेंगे."

जूनी के कहे एक-एक शब्द में कई-कई आश्चर्य छिपे थे. वह हतप्रभ प्रिंस को एकटक देख रहे थे.

"प्रिंस ! तुमने जूनी को ऐसा कहा क्या ?"

प्रिंस काठ-सा खड़ा डैडी की आंखों में ताकने लगा था.

उसका कान खींचते हुए उन्होंने लगभग कठोर शब्दों में पूछा, "वो दूसरी वाली गाड़ी कहां है ?"

"वहां." उसने एक अनिश्चित-सा संकेत दिया.

"लेकर आओ." आदेश था.

वह अपने स्कूल-बैग से गाड़ी निकाल लाया.

डॉ. साहब बोले, "अब तुम अपनी ये वाली गाड़ी जूनी को दे दो, क्योंकि तुमने तो उसकी गाड़ी तोड़ दी."

प्रिंस चुपचाप घूरता हुआ खड़ा रहा.

जूनी गाड़ी पाने की तीव्र अपेक्षा में देखने लगी.

"प्रिंस ! मैं कहता हूं कि ये वाली गाड़ी जूनी को दे दो." डॉ. साहब ने थोड़े गुस्से में कहा.

"नहीं." प्रिंस ने ज़िद में स्पष्ट किया.

"मैं कहता हूं दे दो." उन्होंने ऊंची आवाज़ में कहा तो उनकी पत्नी भी इधर आ गयी.

प्रिंस ढीठ बना खड़ा रहा, अपने निश्चय में दृढ़.

"प्रिंस ! मैं आख़िरी बार कहता हूं, वर्ना इसके बाद तुम्हें सज़ा मिलेगी."

वह सुनकर स्थिर खड़ा रहा, मानो उसे सज़ा की भी चिंता न हो.

इधर मम्मी ने भी उसे पुचकारकर मनाना चाहा, परंतु वह नहीं माना.

जूनी का मन उत्सुकता में जल रहा था. उसे प्रिंस की ज़िद से बहुत चिढ़ हो रही थी. उसके जी में आया कि प्रिंस का मुंह नोच डाले.

डॉ. साहब खिलौना गाड़ी छीन लेने के उद्देश्य से आगे बढ़े, जिसे प्रिंस बखूबी भांप गया. अपनी ज़िद पर बड़ा प्रहार होते देख उसने झट से गाड़ी को अपने हाथों से मरोड़ डाला, जिससे उसका मोम, डंडी वग़ैरह टूट गये. वह कभी भी सहन नहीं कर पायेगा कि इस एक गाड़ी पर जूनी एकाधिकार कर ले. अपनी इस विजय पर वह दंभ से सबको देख रहा था.

सभी चौकन्ने उसे देखते रहे.

जूनी का अंतर फूट पड़ा, आंखों से अनायास आंसू निकल आये, भर्राये स्वर में बोली, "अंकल ! प्रिंस हमको बार-बार डराता है कि वो मेरी और लेखु की एक शिकायत लगा देगा. अंकल, वो झूठ बोलता है. प्रिंस तो खुद ही मुझे एक गंदी बात करने के लिए कहता है." फिर प्रिंस की ओर घूमकर बोली, "प्रिंस तुम बहुत झूठे हो, और झूठ बोलना भी एक गंदी बीमारी होती है. देखना, तुम भी अब जल्दी मर जाओगे. और जो भी तुम्हारी बातें छुयेगा, वो भी मर जायेगा. देखना, तुम्हारे डैडी भी तुम्हें नहीं बचा पायेंगे."

सृष्टि-चक्र का जो रहस्यमयी त्रिकोण था, वो बहुत अद्‌भुत परंतु साधारण ढंग से खुलकर उनके सामने फैला हुआ था, जिसे डॉ. साहब महसूस कर रहे थे.

प्रिंस अपने पिता के समीप आकर बोला, "डैडी ! जूनी झूठ बोलती है."

डॉ. साहब अवाक् प्रिंस को बौखलाये हुए ताकते रहे, फिर अपने में बुदबुदाये, "नहीं बेटे, जूनी झूठ नहीं बोलती."

जूनी मानो सारे झूठ अपने में समेटकर ले गयी थी.

बी ए-४५, शालीमार बाग, दिल्ली - ११००८८.

कहानी

अवसर

जगत नंदनजी को कोई घंटे बाद होश आया. यह अचानक हुआ. थोड़ा-थोड़ा चक्कर जैसा तो पिछले कई दिनों से लगता था मगर इस तरह एकाएक गिर पड़ेंगे और बेहोश हो जायेंगे ऐसा कभी सोचा तक नहीं था.

होश में आते ही वे धड़फड़ा के उठ बैठे. उस समय उनके पास पत्नी के अलावा बड़ा बेटा बलभद्र भी था.

'हां-हां, उठिए नहीं, लेटे रहिए.' बेटा हड़बड़ाकर बोला. जगत नंदनजी ने बेटे को, फिर पत्नी को देखा.

'आप अचानक बेहोश हो गये थे.' पत्नी बोली, 'हम लोग तो घबरा ही गये थे. डॉक्टर को बुलाना पड़ा...'

डॉक्टर बुलाने की क्या ज़रूरत थी ? जगत नंदनजी हत्थे से उखड़ गये, 'जरा-सा कुछ हुआ नहीं कि डॉक्टर, दवा-सूई.' 'होम कॉल' की फीस ले ली होगी ?'

'तब...! तीन सौ ले लिया. सूई का अलग.' बेटे का स्वर भी खिन्न था.

'तुमको डॉक्टर बुलाने के लिए कहा किसने ?' जगत नंदनजी ने बेटे को चार्ज किया.

'मां ने!' बेटा रोष में बोला, ' यही खूब रोने-पीटने लगी...'

'सो क्या मैं मर गया था! बिना मतलब का इतना-इतना पैसा बरबाद करा दिया. दो बैग सीमेंट चला गया... खाली मुंह से फरमाने में कुछ लगता है. बूझता तो वह न है, जो कमाता है.' उन्होंने पत्नी को आग्नेय नेत्रों से देखा और झटके से उठकर खड़े हो गये. मगर तभी उनका माथा घूम गया, वे अरड़ाकर ढह गये.

पत्नी और बेटा स्लिप के खिलाड़ियों की भांति भौंचक हो देखते ही रह गये. उन्होंने हाथ बढ़ाये ज़रूर मगर वहां तक पहुंच न सके और जगत नंदनजी गेंद की भांति जमीन पर गिर पड़े. दोनों ने झपटकर उनको उठाया और बिस्तर पर लिटा दिया. खैरियत हुई कि वे बेहोश नहीं हुए थे. बिस्तर पर पड़ने के बाद उन्होंने आंखें खोल दीं. पहले शून्य को देखा फिर क्रमशः पत्नी तथा बेटे को और आंखें मूंद लीं.

'डॉक्टर को बुलाओ!' सरला ने विकल स्वर में बेटे से कहा. बेटे को मां का प्रस्ताव असुविधाजनक लगा. पर वह कुछ बोला नहीं अडोल खड़ा रहा.

जगत नंदनजी ने ही बायीं हथेली खड़ी और मुख-मुद्रा कड़ी कर पत्नी के प्रस्ताव को निरस्त कर दिया. बेटे को उनका वह एक्शन बहुत अच्छा लगा मगर पत्नी को बिल्कुल न भाया. सन्नाटा...! केवल काल दीवार घड़ी के भीतर से टिक-टिक करता रहा. जगत नंदनजी ने आंखें खोलीं. पत्नी को बाईपास कर बेटे पर नज़र टिका दी.

'लिंटर ढलैया हो गया ?' उन्होंने बेटे से पूछा.

सुनकर सरला अवाक रह गयी. अब भी इनको इसी सब की चिंता है. उसने सोचा.

लिंटर ढालने की ही तैयारी हो रही थी जब वे बेहोश हुए थे. सुबह से बासी मुंह यहां-वहां दौड़ते इस-उस पर गरजते-बरसते रहे थे. दोपहर से अधिक दिन बीत चुका था. इस बीच पेट में कई कप चाय और थोड़ा पानी ही पड़ा था.

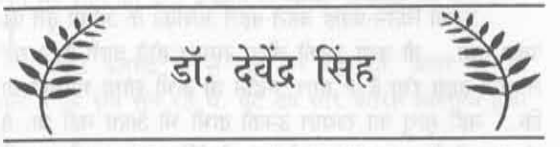

'हां हो गया ढलैया.' बेटे का स्वर झल्लाया हुआ और किंचित कठोर था. 'आप उस सबकी चिंता-फिकर छोड़िए और चुपचाप आराम कीजिए. डॉक्टर ने 'बेड रेस्ट' की हिदायत दी है.'

बेटे की बोली में कुछ था जो ख़तरनाक था. जगत नदंनजी का संपूर्ण अंतर-मानस हिल गया. वहां बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं. बेटा, बाप की बोली बोल रहा था. यह स्वर तो उनका था. कर्ता वाला स्वर.

'बेड रेस्ट' में रहेंगे कि हमको टीबी हो गयी है रे!' जगत नंदनजी ने भरसक कड़ककर कहा, 'बड़ा न डॉक्टर का नाती बना है.' इतना कहकर उन्होंने बेटे को देखा. अपेक्षित प्रभाव पड़ता देख प्रेमिल क्रोध में आगे जोड़ा, 'अरे सुबह से भूखे पेट चाय पर चाय पीते रहे थे, गैस-वैस बढ़ गयी होगी, उसी से...' तुम लोग तो व्यर्थ में फुंसी को भगंदर बना रहे हो. एक तो बेमतलब का पैसा बरबाद किया ऊपर से क़ैफा पड़ रहा है.' उन्होंने फिर आंखें मूंद लीं.

बेटा कुछ पल मानव-बम बना पिता को घूरता रहा फिर तेजी से पलटकर चल दिया.

सरला वैसे ही खड़ी रही. वह एकटक पति को देख रही थी. 'कुछ खाइएगा ?' उसने धीमे सहमे स्वर में पूछा, 'डॉक्टर साहब बोले थे होश आ जाय तो कुछ खिलाइएगा...'

जगत नंदन जी के फफोटे फड़के मगर कुछ बोले नहीं. उनके भेजे में तो बेटे की बात फंस गयी थी. उस सबकी चिंता फिकर छोड़िए और चुपचाप आराम करिए! तात्पर्य क्या था उसका ? एक

बार चक्कर खाकर गिर गये तो क्या समझ लिया कि मर गये जगत नंदनजी ? वह उनको मृत्यु-शय्या पर पड़ा बूझ रहा है...?

तभी उनके अंतर से दूसरी तरंग उठी. कहीं सचमुच ही यह चक्कर...? इससे आगे वे सोच नहीं सके... नहीं-नहीं ज़रूर गैस के कारण ही चक्कर आया होगा... पर यह बात वे दावे के साथ कैसे कह सकते हैं ? जीवन का क्या ठिकाना ? और फिर भविष्य के बारे में...

अब उनको कई तरह की आशंकाएं घेरने लगीं. रक्तचाप बढ़ने से भी चक्कर आ सकता है. इधर उनको क्रोध भी कुछ अधिक ही आने लगा है. वैसे तो वे स्वभाव से ही तमसाहा हैं... डॉक्टर ने बीपी की जांच तो की होगी... डायबिटीज बहुत बढ़ जाने से भी चक्कर आता है. मगर वे तो डायबेटिक नहीं हैं ? ...नहीं हैं तो क्या हो नहीं सकते ? हो सकता है भीतर हो गया हो, डिटेक्ट न हुआ हो. उम्र साठ से ऊपर गयी है. शरीर भी भारी है और... इस उम्र में भी मीठे से परहेज़ कहां करते हैं...!

उनका चिंतन-प्रवाह बहते-बहते आशंका के अंतिम वृत्त पर पहुंच गया... तो क्या उनकी लीला समाप्त होने वाली है ? यह ले जाने वाला रोग है ? मगर उन्होंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि... नहीं मृत्यु का खयाल उनको कभी भी आता नहीं था. वे तो समझते थे... सहसा उनको एक लोकोक्ति याद आयी. 'अपनी आयु और दूसरे का धन बहुत अधिक लगता है.' पर, 'बहुत अधिक' का भी तो अंत कभी आता ही है. उन्होंने तो अंतहीन मान लिया था अपने जीवन को...

'थोड़ा-सा खाइए न कुछ !' तभी पत्नी की मनुहार सुन वे मानो भंवर-जाल से छूटे.

उन्होंने चट से आंखें खोल दीं. पत्नी को देखा. उनकी आंखों में भय और कातरता का मिला-जुला भाव था. सरला ने उसको लक्ष्य किया.

'ले आयें ?' उसने फिर पूछा !

'खाने का मन तो एकदम नहीं करता है.' उनका स्वर कमजोर था.

'सुबह से कुछ नहीं खाया है अब रात होने चली. दो-चार चम्मच ही कुछ खाइए न. पेट में कुछ पड़ेगा तो...'

जगत नंदन जी ने स्वीकृति-सूचक मुद्रा बनायी. सरला भीतर की ओर भागी.

❐

जगत नंदन जी को जब मालूम हुआ कि उनका न तो रक्तचाप बढ़ा है, न ही मधुमेह है तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा. उनको घर की दीवारों पर बार-बार का देखा एक दृश्य याद आया. कई बार छिपकिली कॉक्रोच को पकड़ लेती है. निगलने से पहले उसको झटके पर झटका देती है. उसी क्रम में कॉक्रोच उसके मुंह से फिसल जाता है और बच निकलता है. जगत नंदनजी को भी वैसा ही लगता मानो वे मृत्यु के जबड़े से छिटक आये हों.

११ मार्च १९४०, तेलधी (भागलपुर, बिहार);
एम. ए.(हिंदी), पी-एच. डी.

लेखन : *वरिष्ठ कथाकार-उपन्यासकार. देश की सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित.*

प्रकाशन : *'तिरहुतिया', 'भोज' (कहानी-संग्रह), 'यातनागृह' (काव्य) प्रकाशित.*

संपादन : *'शिल्पी,' (हिंदी), 'अंगप्रिया' (अंगिका), 'कविता' ९८' (काव्य-संकलन) का संपादन.*

संप्रति : *स्वतंत्र-लेखन.*

पर, उनकी वह खुशी फूस की आग सिद्ध हुई. वे जब बिस्तर से उठकर खड़े हुए तो पाया कि चक्कर आ रहा था. चलते तो डगमगाते. पलंग, दीवार, चौखट आदि को थाम, थाह-थाहकर बाथरूम तक जा पाते. बाहर निकलने का प्रश्न न था.

अब तो जगत नंदनजी के साथ-साथ डॉक्टर भी चकराया. कई दवा चलायीं, मगर चक्कर आता ही रहा. दूसरे डॉक्टर को दिखाया गया, फिर तीसरे को. तीसरा डॉक्टर शहर का सबसे बड़ा फिजीशियन माना जाता था. उसने सब चिट्ठा और जांच-रिपोर्ट देखने के बाद रीढ़ के ऊपरी हिस्से का एक्स-रे कराने की सलाह दी. ज़ाहिर है उसने स्पॉडिलाइटिस का अनुमान लगाया था. एक्स-रे कराया गया. मगर रीढ़ में कोई ख़राबी न थी.

जगत नंदन जी अब तक पूरे रोगी बन चुके थे. उन्होंने खाट पकड़ ली. दोनों बेटे और पत्नी मिलकर उनको डॉक्टर के यहां तथा जांच-वांच के लिए ले जाते. अब उनका एकमात्र कर्म बच गया था पड़े-पड़े सोचते रहना...

वे क्या अब कभी भी अपने से उठकर खड़े न हो सकेंगे ? चलने-फिरने अपना कारोबार करने लायक नहीं हो पायेंगे ? ऐसे ही मृत्यु की प्रतीक्षा करते बिताना पड़ेगा शेष जीवन...? अनेक-अनेक प्रश्न उनके भीतर भनभनाते रहते. भनभनाते-भनभनाते कभी डंक भी मार देते... उनके जीवन का नाटक क्या सचमुच ख़त्म हो गया ? परदा गिरने ही वाला है ?... डंकों के दंश से वे तिलमिला जाते और अनायास ही जीवन भर के किये-धरे का लेखा-जोखा लेने लगते...

बासठ बरस लंबे इस जीवन में उन्होंने क्या किया ? वे अपने आप से पूछते और एक लंबे धागे में गुंथे कर्म-अकर्म बंद आंखों के आगे टंग जाते... वही सारे कर्म, जब खड़े थे महान लगते थे. अपनी उम्र भर की कमाई पर कितना गर्व होता था उनको! छब्बीस हजार प्रति माह केवल किराये से आता था...

अब जबकि वे बिस्तर से आ लगे हैं और उठकर खड़ा होने की उम्मीद दम तोड़ने लगी है, उनको अपने वे सारे 'महान कर्म' अकर्म लगते हैं. लगता है वे उम्र भर बेतहाशा भागते रहे. भागते-भागते ठोकर खायी और गिर पड़े. बहुत तेज थी उनकी गति. उतनी गति प्रकृति बर्दाश्त नहीं करती है...

जगत नंदन जी धन के पीछे भागते रहे थे. धन के कई प्रकारों में से मकान को चुना था उन्होंने. मकान बनाने का जुनून सा उनके माथे पर सवार हो गया था. वही जीवन का लक्ष्य बन गया था. हालांकि वे ग्रामीण मूल के थे. किसान के घर में जनमे थे. किसान को ज़मीन जान से प्यारी होती है. मगर जगत नंदनजी ने गांव तथा खेती का भविष्य भांप लिया था. दूसरे नौकरी के सिलसिले में उनको शहर में ही रहना पड़ता था. शहर में सब कुछ था. गांव में जो था वह भी मर रहा था. अतएव उन्होंने शहर में ही बसने का इरादा कर लिया था.

आरंभ में तो उन्होंने एक प्लॉट लेकर एक मझोला-सा घर ही जोड़ा था. मकान पर मकान जोड़ने का रोग कब और कैसे लगा, अब तो ठीक से याद भी नहीं था. इतना भर याद था कि पहले एकमंजिला पर दोमंजिला जोड़ा. फिर नये-नये प्लॉट खरीदते, उनके ऊपर फ्लैट बनाते. हां फ्लैट सभी मझोले ही बनाते. बड़े फ्लैट बनाने से डरते. सोचते बड़े फ्लैट में बड़े किरायेदार रहेंगे. उनसे डील करने में दिक्कत हो सकती है. छोटे भी नहीं बनाते. छोटे किरायेदारों का व्यवहार बड़ा ओछा-नीचा होता है. सूअर की तरह दुनिया भर बच्चे पैदा करेंगे. एक कमरे में दस जने कोचम-कोच करके रहेंगे. दिन-रात कांय-कांय, कच-कच. चारों तरफ गंदगी फैलायेंगे. नहीं जगत नंदनजी जैसे हैं वैसे ही लोगों को अपने घर में रखेंगे.

फ्लैट को कैसा भी फिनिश कर किराये पर उठा देते. आमदनी बढ़ जाती. लाभ ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ा. फिर तो वे चेत में ही न रहे. पत्नी-बच्चे, परिवार-समाज, नाते-रिश्ते सब भूल गये...

अब लगता है उन्होंने अपना जीवन उन्हीं ईंटों के बीच चिन दिया. जीवन को जिया कहां ? न ठीक से खाया न पहना. कोई सुख न जाना, न देशाटन किया न तीर्थाटन. अपने सरला नाम के अनुरूप ही सरल, सुशील, प्रेमिल पत्नी मिली थी. उसके साथ जीवन भर दुश्मन जैसा व्यवहार किया. प्रेम के दो बोल तो कभी बोले ही नहीं. डर लगता था जहां नरम पड़े कि कुछ मांग कर बैठेगी. सच में पद्मिनी भांड के पल्ले पड़ गयी... तीन बेटे ही दिये रामजी ने, बड़ी कृपा की. बेटी-विवाह के दुर्गंजन से बचा दिया. मगर वे ही अभागे थे. झोली भरकर मिला जीवन का वरदान, पर उसको यहां-वहां गिरा दिया और ईंटा-रोड़ा झोली में भरते रहे...

तीन में से एक भी बेटे को निकाल न सके. कभी ध्यान ही नहीं दिया उनकी ओर, न प्यार किया. पिता का प्यार क्या होता है बेटों ने जाना ही नहीं... एक तो चला भी गया मझला, जो तीनों में सबसे अच्छा था. उसको भी तो... ओह! जगत नंदन जी को अब महसूस होता है उनके दामन में बेटे का लहू लगा है. उसका यदि ठीक से इलाज होता तो... मगर तब तो उनको पैसा बेटे से भी अधिक प्यारा था. कमला रोग हो गया था उसको. समय से उपचार न हो सका. ऊपर से जब उसने होली में ससुराल जाना चाहा तो सब जानते-बूझते भी रोका नहीं. सोचा भले वहां ससुर इलाज करायेगा... वहां सब तरह का कुपरहेज़ हो गया और सोने जैसा पूत हाथ से निकल गया... नीचता की हद तो यह कि सरला के लाख रोने-कलपने पर भी उन्होंने बहू और पोते को अपने घर लाने का कोई उपक्रम न किया. वे आज भी वहीं हैं...

❐

बाहर बलभद्र मां से बात कर रहा था. जगत नंदनजी कमरे में पड़े सब सुन रहे थे. बेटे का स्वर बेतरह झल्लाया हुआ था.

'अब कहते हैं न्यूरोलॉजिस्ट को दिखाने के लिए,' बेटा बोला. 'वह भी क्या तो यहां कोई अच्छा डॉक्टर नहीं है रांची या पटना कहीं ले जाओ! उनको तो बोलने में कुछ लगा नहीं, खाली बोली ही न खर्च हुई. जिसकी कमर ढीली होती है वह बूझता है... पता नहीं कौन डॉक्टरी पढ़कर आये हैं ये लोग एक मामूली रोग नहीं पकड़ पाते हैं...!'

'यह सब भगवान का दंड है और क्या!' सरला मिरमिराकर बोली.

'हजारों रुपये पानी में चले गये अब तक यह भी पता न चल सका कि चक्कर आख़िर आता क्यों है. अब रांची-पटना ले जाने का ख़र्चा चाहिए और वहां भी कुछ पता न चला तो कहेंगे बेलौर ले जाओ. हुंह...!' बलभद्र क्रुद्ध बैल की तरह फोफियाया.

'ख़र्चा तो होगा ही न बेटा.' सरला ने दीन स्वर में कहा, 'जब रोग ही ऐसा लगा है कि किसी डॉक्टर को कुछ पता ही नहीं चलता है...! मगर तुम क्या करोगे, जान देखोगे कि पैसा...!'

'सब पैसा इसी एक बीमारी में स्वाहा कर दें ?' बलभद्र ऐसा बौखलाया कि होश ही न रहा वह क्या बोल रहा है.

'तब पैसा होता काहे के लिए है बोलो.' मां ने बेटे को चेत में लाने के भाव से कहा, 'अपने आदमी की जान बचाने में भी यदि वह ख़र्च न होगा तो क्या उसको जलाकर तापेंगे ?'

मगर चेत में आने के बदले बलभद्र और आपा ही खो बैठा.

'सब मकान-ज़मीन बेचकर इन्हीं के ऊपर खर्च कर दें और हम लोग जाकर सड़क पर भीख मांगने लगें ?' बलभद्र ने आंखें तरेरकर सरला से प्रश्न किया.

सुनकर सरला भी तिलमिला गयी.

'भीख मांगोगे तो अपने भाग-करम से बेटा,' वह क्लेश से भरकर बोली, 'हम लोगों के कारण क्यों भीख मांगोगे ! रही ख़र्च करने की बात तो तुम कोई अपनी कमाई तो नहीं न ख़र्च करोगे! इनका कमाया हुआ है, इन्हीं में लग जायेगा.'

वहां सन्नाटा छा गया. जगत नंदनजी उधर ही कान लगाये रहे, मगर फिर कोई आवाज़ न आयी.

बेटे की बातों से उनका दिल दहल गया था. छाती के भीतर से धम-धम का स्वर साफ सुनाई पड़ता. धड़कन की गति सामान्य होने में कुछ समय लग गया. इस बीच माथा भी सुन्न-सा हो गया था.

इन्हीं बेटों के लिए वे जीवन भर 'अरजते' रहे! जगत नंदनजी ने गहरी पीड़ा के साथ सोचा. जीवन को कभी जीवन नहीं समझा... आज वही बेटे पैसे को बाप बनाने के लिए तैयार हैं. बाप मृत्यु का निवाला बन जाय कोई परवाह नहीं...!

मगर जगत नंदन, तभी उनके अंतस्तल से एक मौन स्वर फूटा, तुम्हारा बेटा तो तुम्हारे ही पैरों के निशान पर पैर रखकर चल रहा है. तुमने भी तो धन को ही भगवान मान लिया था... धन की बेदी पर बेटे की बलि चढ़ा दी. तब नहीं सोचा था... कहावत भी है, 'बाप ही पूत परापत घोड़ा, नहीं कुछ तो थोड़म-थोड़ा.' आज बेटे का व्यवहार क्यों अखर रहा है ? जो किया है उसी का न फल मिलेगा. तुमने भी बेटे के जीवन का मोल समझा होता तो आज बेटा तुम्हारे जीवन का मोल बूझता...!

वे पस्त पड़ गये. निढाल-सा हो आंखें मूंद लीं. मुंदी पलकों के बीच अंधेरा था. अंतर में भी अंधेरा भरा था. अंधेरा...! कब्र का अंधेरा. सहसा उनको बोध हुआ वे अपने द्वारा निर्मित कब्र में बंद हैं. यद्यपि सांस अभी टूटी नहीं है. नाम मात्र को जीवित हैं वे. सांप के पेट में जाने के क्रम में ज्यों मेढक जीवित रहता है.

उन्होंने आंखें खोल दीं. नज़र घुमाकर दीवारों को, छत को, ढेरों सामान को देखा. वे सभी सामान उनको कब्र की माटी और ढेले लगे... सहसा उनको अपने भीतर एक पागल अट्टहास-सा उमड़ता महसूस हुआ. जी में आया, खूब ठठाकर हंसें और हंसते रहें, देर तक. अपने हाथों निर्मित कब्र में बंद जीवित आदमी ! नहीं, मृत्यु से भी बदतर जीवन जीता आदमी... उन्होंने आत्म-विद्रूप से भरकर सोचा.

जगत नंदनजी उस कल्पना में डूबे रहे. सहसा उनको अपने अंतर में एक ऐसे भाव का बोध हुआ जो सुख जैसा था. उन्होंने ध्यान दिया, हां वह सुख ही था. उस सुख का उत्स कहां था ? वह उनके दारुण यथार्थ-बोध से पैदा हुआ था या कि पहली बार जीवन के सच को समझने का सुख था ? जो भी था, मगर था वह सुख ही.

उस सुख-बोध के पीछे से एक बलवती इच्छा फूटी. वह थी, उस कब्र से निकलने की इच्छा. इस कब्र से निकलना क्या संभव है ? अब उनके संपूर्ण अंतस्तल में यही एक प्रश्न फैला था...

❐

'जरा-सा मेरा बैग देना तो ?' जगत नंदन जी ने पत्नी से कहा और कमर से ऊपर के भाग को उठाकर पीठ पलंग के कंधे से टिका ली.

सरला ने चॉकलेट रंग का उनका फोलियो बैग लाकर दिया. उन्होंने बैग में से चेक बुक और कलम निकाली. दस हजार का चेक लिखा और फाड़कर सरला की ओर बढ़ाया. सरला ने हाथ आगे नहीं किया, कुछ न समझने की मुद्रा में पति को देखती रही.

'तुम बैंक चली जाओ. दस हजार का बियरर चेक है. पीछे अपना हस्ताक्षर कर देना पैसा मिल जायेगा...'

'हम तो कुछ जानते-बूझते भी नहीं कि वहां कैसे क्या होता है. कभी गये भी नहीं बैंक. आप यह हमको क्यों दे रहे हैं, बलभद्र को दीजिए न. सब दिन तो...'

'नहीं, उसको नहीं दूंगा', वे बीच में ही बोले, 'तुम अपने से जाओ. और चेक भी तुम्हारे नाम से है !'

सरला समझ गयी कि बलभद्र की बातें उन्होंने सुन ली हैं.

'उसको नहीं दीजिएगा, तो सुनील को दे दीजिए.'

'मैं जो कहता हूं, वह करो चुपचाप. कोई मेरा नहीं है. अंधा था मैं अब तक आंखों पर पट्टी बंधी थी...'

'मगर हम तो कभी बैंक के भीतर गये भी नहीं हैं.' सुनील को साथ ले लें ?

'वहां कोई दिक्कत नहीं होगी. गेट पर गार्ड रहता है उससे पूछ लेना कैश काउंटर किधर है. वहां चेक के पीछे हस्ताक्षर करके दे देना, वह पैसा दे देगा. किसी का भरोसा मत करो अपने से करो सब.'

'भरोसा तो करना पड़ता है. बिना भरोसे के कैसे चलेगा जीवन.'

'उसकी बातें सुनने के बाद भी तुम्हारा भरोसा बना हुआ है ?'

'हम उसके भरोसे की बात कहां कह रहे हैं. हम तो जीवन की बात बोल रहे हैं. अकेले-अकेले कोई जी सकता है भला ! किसी न किसी के ऊपर तो भरोसा करना ही पड़ेगा. अब देखिए न, आप ही आखिर हमारे ऊपर भरोसा करके ही तो यह चेक दे रहे हैं.'

'हां, उस अर्थ में ठीक है तुम्हारी बात. मगर बेटे से तो मैं भर पाया.'

'कोई ज़रूरी है कि सभी बेटे एक ही जैसे होंगे.'

'न हों, तब भी तुम अकेली जाओ. जैसा मैं कहता हूं वैसा करो ?'

सरला भौंचक थी. उसको पति की भाषा, भंगिमा सब बदली हुई लगी. 'क्या ये वही आदमी हैं !' उसने सोचा. पता नहीं क्यों, पति में आया औचक परिवर्तन उसको शुभ न लगा...

'और सुनो,' जगत नंदन जी बोले, 'बैंक से ही बाजार चली जाना नज़दीक पड़ेगा...'

'उतना-उतना पैसा पास में लेकर बाजार जायेंगे ?'

'हां ! कुछ नहीं होगा और होगा... तो होगा.' जगत नंदनजी झाड़ कर बोले.

'बाजार से क्या लाना है ?'

'एक-एक किलो काजू, किशमिश, अखरोट ले लेना और...'

'वह सब अभी आप खाइएगा ?'

'क्यों, क्यों नहीं खाऊंगा मैं ?'

'आपको अभी नुकसान नहीं करेगा.'

'नुकसान क्या करेगा... तुमको तो नहीं न करेगा नुकसान, तुम खाना. मेरे लिए बेदाना, सेब ले लेना... और अपने लिए जो-जो चीज़ लेने का मन हो ले लेना...'

सहसा सरला के भीतर से रुलाई का एक रेला-सा उमड़ा और वह पलटकर तेजी से बाथरूम में घुस गयी. पानी का नल खोल दिया और हिलक-हिलककर रोने लगी. फिर विकल भाव से माथा हिला-हिलाकर मौन स्वर में बिलखने लगी, 'अब वे नहीं बचेंगे. नहीं ss...'

जिस आदमी ने सरला को कभी चूड़ी-सिंदूर के लिए भी दस टका नहीं दिया, वह दस हजार का बियरर चेक दे रहा है और कहता है अपने लिए जो-जो चीज़ लेने का मन हो ले लेना.

उसकी रुलाई फिर तेज हो गयी. 'नहीं, अब वे नहीं बचेंगे. यह सब उसी का लक्षण है. अंतिम समय में आदमी का स्वभाव बदल जाता है...'

❐

बाजार से लौटकर सरला ने नोटों की गड्डी जगत नंदन जी की ओर बढ़ायी.

'मैं क्या करूंगा इसका,' वे बोले, 'मैं अब किस लायक हूं. इसको तुम अपने ही पास रहने दो. अब तो मेरा सब काम तुम्हारे ही शरीर से होगा.' उनके स्वर में परिहास छलक आया.

सरला के भीतर से फिर रुलाई फूटने को हुई, मगर इस बार उसने उसे बलात रोक लिया और मन-ही-मन काली माई को सुमरने लगी. 'कल्याण करो मां! कल्याण करो...!'

'एक बार रांची या पटना जाकर दिखा लेते न!' कुछ देर चुप खड़ी रहने के बाद सरला बोली, 'इस तरह पड़े-पड़े तो...'

'कैसे चला जाऊं रांची-पटना, उड़के ?' जगत नंदनजी पूर्व की ही भांति भड़क उठे, 'मैं अपने से जाने लायक होता तो किसी की आस देखने लगता ? उसको कोई परवाह ही नहीं है. वह तो चाहता होगा भले मर जाय तो एकछत्र राज मिल जायेगा...'

'चलिए न हम चलते हैं. वह नहीं जाता है तो मत जाय.'

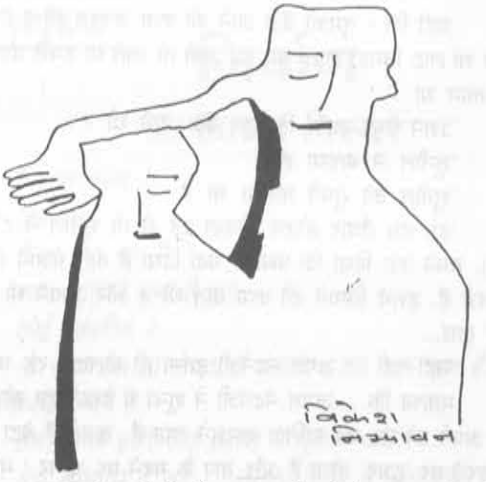

जगत नंदनजी ने चौंककर पत्नी को देखा. उसकी आंखों में तेज तथा बल था. उनको लगा, वह बल उनके भीतर भी भरता जा रहा है. उसके साथ ही सुख तथा भरोसा भी.

'आज कौन-सी तारीख़ है ? कुछ पल चुप रहने के बाद जगत नदंन जी ने पूछा.'

'नौ तारीख़ न होगी आज!' सरला बोली.

'नौ तारीख़ हो गयी और अब तक किसी किरायेदार ने किराया नहीं दिया है ?' पांच तारीख़ तक ही दे देते थे सभी.'

'किराया तो सबने दे भी दिया !'

'किसको दिया ?'

'बलभद्र को.'

'बलभद्र को क्यों दिया, सब दिन तो मुझे देते थे ?'

'बलभद्र ने ही सभी किरायेदारों से जाकर कह दिया था कि अब से उसी के हाथ में किराया दें. गुड़िया की मम्मी हमको बता रही थी...'

'क्या ?'

'यही कि बलभद्र बौआ बोले हैं कि...'

'तो उसने मुझे अभी से मरा हुआ मान लिया.'

'कैसी कुभाखा मुंह से निकालते हैं !'

'तुमने उन लोगों को मना नहीं किया ?'

'लीजिए, हम कैसे मना करते. हमको इस घर में कभी किसी ने आदमी लगाकर समझा है ? आप ही न दोनों बाप-पूत मिलके सब दिन जो मन होता था सो करते थे. हम आप लोगों के तीन में थे कि तेरह में. हम तो नौरी-बानी से भी बदतर बनकर रहे इस घर में...'

'हूं !' जगत नंदनजी सोच में पड़ गये.

'बलभद्र तो उस दिन भी जो हम बैंक से लौटकर आये तो खूब लाल-पीला हो रहा था. पूछ रहा था...'

'क्या पूछ रहा था ?' जगत नंदनजी ने बेसब्री से पूछा.

'यही कि - तुमको बैंक जाने की क्या ज़रूरत थी ? ऐसा कौन सा लाट बिगड़ा जाता था. हम आते तो जाते या हमसे बोलते जो काम था !'

'उसने कैसे जाना कि तुम बैंक गयी थी ?'

'सुनील ने बताया होगा.'

'सुनील को तुमने बताया था ?'

'हां, हम तैयार होकर निकल रहे थे तो सुनील ने टोंक दिया. हमने कह दिया कि पापा ने चेक दिया है वही भजाने बैंक जा रहे हैं. इसमें छिपाने की क्या बात थी ? और आपने भी तो वैसा कुछ...'

'नहीं-नहीं...' जगत नंदनजी इतना ही बोलकर रह गये.

मतलब कि... जगत नंदनजी ने शून्य में देखते हुए सोचा, यह अपने को घर का मालिक समझने लगा है. कहते हैं बेटा मां के मरने पर 'टूअर' होता है और बाप के मरने पर 'कुमर.' मगर यह तो बाप के जीते जी ही 'कुमर' बन गया.

'सरला !' सहसा वे दृढ़ स्वर में बोले, 'तुम यात्रा की तैयारी करो, हम कल ही रांची के लिए रवाना होंगे. वहां के. के. सिंह को दिखायेंगे. वे भी ज़वाब दे देंगे, तब सीधा दिल्ली जायेंगे और एम्स में...'

'साथ में और कौन जायेगा ?'

'सुनील को साथ में ले लो. और अगर वह भी आना-कानी करे तो तुम अकेली चलो. मैं थोड़ा सा सहारा पाकर चल लूंगा. और वैसा ज़रूरी पड़ेगा तो सहारा देने वाले बहुत मिल जायेंगे. संसार अभी मनुष्यता से एकदम खाली नहीं हो गया है.'

'मगर इतनी ज़ल्दी कैसे...' सरला के स्वर में असमंजस था, 'हम चले जायेंगे तो यहां खाना-पीना...?'

'उसको बोलो जाकर अपने बीवी-बच्चों को ले आयेगा. या टेलिफोन कर देगा, वह अपने आप आ जायेगी. दो-एक दिन तो किसी किरायेदार के यहां भी... या जैसा होगा करेगा. तुम चलने की तैयारी करो ?'

उस निर्णय के साथ ही जगत नंदन जी के अंतर से उत्साह तथा जीवन के पुनरारंभ के संकल्प का द्विदल फूटा. एक उम्मीद पनपने लगी. उनको लगता, उनके जीवन की पौ तो अब फट रही है. अब तक तो अंधेरी रात थी. कुछ भी सूझता नहीं था. टोते-टापते, चलते चले जाते थे. परंतु जीवन क्या वास्तव में यही है ? एक अंधी सुरंग की ठोकरों-भरी यात्रा...? नहीं वह जीवन नहीं था. जीवन का भ्रम था वह...!

जीवन को तो उन्होंने अब देखा और समझा है. अब तक तो अंधे थे. ठीक वही हाल था उनका कि अंधा मूंज की रस्सी बांटता जाता था और एक बकरी उसे चबाती जाती थी... धन-संपत अरजता है आदमी जीवन को सुखमय बनाने के लिए और वही यदि दुखों का कारण बन जाय तो...! वही तो हुआ उनके साथ. जीते जी कब्र में दफ़न हो गये. अपनी कब्र ही तो खोदते रहे अब तक और अब उसी में बंद हैं...!

नहीं जगत नंदनजी अपने अब तक के जीवन को खारिज़ करते हैं. एक नया जीवन यहीं से वे आरंभ करेंगे.

❐

जीवन भी ज़ालिम क्या चीज़ है. इसके सभी रहस्यों को भला कौन जान पाया है. जगत नंदनजी के पास जब तक जीवन का वरदान कोष अक्षुण्ण था तब तक तो वे अचेत रहे और जब चेत में आये तब तक कोष ही रीत चुका था. वे रांची गये, पटना गये, यहां तक कि एम्स में भी गये, मगर चक्कर आना बंद न हुआ. सब ज़गह से घूम-फिरकर, हारकर, फिर उसी कमरे में उसी पलंग पर आ पड़े. पड़े-पड़े सोचते रहते. पढ़ने की भी मनाही थी. आरंभ में गीता-रामायण पढ़कर समय बिताने की जुगत की थी. पर पढ़ने से चक्कर बढ़ जाता था सो डॉक्टर ने मना कर दिया.

किसी से बात करने को तरसते रहते. लोग आते तो थे मगर मृत्यु-शय्या पर प्रतीक्षारत को देखने की औपचारिकता भर पूरी करने. उनसे मिलने, बैठकर दो बातें करने कोई नहीं आता था. वे जब तक बैठते, भागने के उपाय ही सोचते रहते. उपचार संबंधी दो-चार बातें पूछने और सांत्वना के दो बोल बोलने के बाद कोई भी बहाना बताकर निकल लेते. एक सरला ही थी जो उनकी बात सुनती, समझकर उत्तर देती. वह भी तो हर समय उन्हीं के पास बैठी नहीं रह सकती थी. शेष समय काल पहाड़ बनकर छाती पर बैठा रहता, बिना हिले-डुले.

बलभद्र ने तो उनका सिंहासन ही दख़ल कर लिया था. उसने हू-ब-हू जगत नंदनजी वाली जीवन-शैली अपना ली थी. उसकी आंखों की पहचान तेजी से मर रही थी. एक बड़ी ही निर्मम किस्म की निस्संगता उसमें घर कर गयी थी. वह पूरी तरह अंधा हो चुका था. अंधा और अचेत. पैसा ही उसका सब कुछ बन गया था. ख़र्च के नाम से ही भड़क उठता. पैसे का जो भूत अब तक जगत नंदनजी के माथे पर सवार था वह अब बलभद्र के ऊपर चढ़ गया था. उसने पिता द्वारा उठाये तिमंजिले को तो पूरा किया ही, लगे हाथ एक-दूसरे दोमंजिला को भी तिमंजिला बनाने में भिड़ गया.

जगत नंदन जी अपने प्रतिरूप को देखते, कुढ़ते और आत्म-घृणा से भर-भर जाते.

'उसको बोलो,' एक दिन उन्होंने सरला से कहा, 'जीवन ऐसी तुच्छ चीज़ नहीं है कि उसको ईंट-गिट्टी, बालू-सीमेंट और लोहा-लक्कड़ में मिला दिया जाय. यह जीवन बहुत अनमोल चीज़ है. मेरे पास तो वह आता ही नहीं है. आयेगा भी तो मेरी बात सुनना नहीं चाहेगा. तुम्हारी बात मानेगा तुम समझाओ उसको...!'

'आपने कभी मानी हमारी बात, कभी कुछ समझने को तैयार हुए ?' सरला चिड़चिड़ा गयी, 'और कहते हैं वह मानेगा हमारी बात ! यही बात तो हम आपको समझाना चाहते थे कि असली धन हैं तीनों बेटे. इनको आदमी बना लीजियेगा तो आप

सबसे धनी हो जाइयेगा. मगर आपको हमारी बात मिर्ची लगती थी. अब जब खाट पर पड़ गये हैं तब आपकी अकल खुली है. यह अकल किस काम की...! वह भी तो असली बाप का बेटा है, आपसे पीछे कैसे रहेगा. आपसे भी दो डेग आगे जायेगा वह. हम क्या हमारा करतार भी उसको नहीं समझा सकेगा...!'

जगत नंदन जी ने पत्नी को इस तरह देखा मानो कह रहे हों, तुम भी सरला ! सरला ने उनकी आंखों में भरी कातरता को देखा. उसका हृदय भर आया. आंखें डबडबा गयीं.

❐

कोढ़ में खाज का काम किया पैसे के अभाव ने. कैसी विडंबना है, जीवन भर जो पैसा ही जोड़ता रहा, गाढ़े समय में उसको पैसे का अभाव हो गया ! उनका अपना खाता शून्य हो चुका था. किराया उनको मिलता नहीं था. उन्होंने सरला के द्वारा किरायेदारों को कहलाया भी, मगर वे अब जगत नंदनजी को मालिक मानने को तैयार न थे. अस्त हो गये सूरज को कौन प्रणाम करता है !

जगत नंदनजी को यह कचोट बार-बार होती कि वह अंतिम तिमंजिला उठकर उन्होंने अपने को कंगाल बना दिया. लाख से ऊपर ही उसमें लग गया. उतना भी यदि पास में होता तो जीवन इतना निसहाय नहीं लगता.

उनकी अंतरात्मा में अब एक ही तड़प थी कि एक बार बस एक बार उनको फिर से खड़ा होने का अवसर मिल जाता ! तब वह जीवन को एकदम अलग तरीके से जीने का उद्यम करते. उनका बहुत-सारा समय इसी कामना में बीतता. एक ही सपना वे बार-बार देखते...

... जीवन के देवता उनके समक्ष प्रकट हुए हैं.

'तुम्हारी अंतिम अभिलाषा क्या है जगत नंदन ?' देवता पूछते हैं.

'जीवन जीने का एक और अवसर.' वे व्यग्र भाव से कहते हैं.

'एवमस्तु!' कहकर देवता अलोप हो जाते हैं.

मगर मित्रों, जीवन में कभी दुबारा वह 'अवसर' मिलता है क्या ? जगत-नदंनजी को भी नहीं मिला. वे सपना ही देखते रहे.

उनके गले से ऊपर का भाग एकदम दुरुस्त है. गले से नीचे का भाग गल रहा है. अब सचमुच सरला ही उनकी देह बन गयी है. वही उनको उठती-बैठती है. सब क्रिया-कर्म करवा के कभी बिस्तर पर लिटा देती है, कभी खुले में कुर्सी डाल, उस पर बैठा देती है. वे बैठे रहते हैं, देखते हैं और सोचते हैं. उनकी आंखों की सीमा में उनके बनवाये दोमंजिला-तिमंजिला मकान होते हैं. वे उन मकानों को देखते हैं और अनायास ही उनके अंदर संवाद होने लगता है...

'ये मकान जिनको बनाने में तुमने अपना जीवन झोंक दिया, आज तुम्हारे किसी काम के हैं ? इनसे तुमको कौन-सा सुख मिल रहा है ?'

'सुख नहीं, संताप मिल रहा है. उससे भी कहीं अधिक, कहीं दारुण...!'

जगत नंदन जी आज भी वैसे ही सांसों के सलीब पर लटके हैं. उनके होठ कुछ-कुछ बुदबुदाते रहते हैं. मगर उन बुदबुदों को सुनने वाला कोई नहीं है.

'देवगिरि,' आदमपुर घाट मोड़,
भागलपुर (बिहार) - ८१२००१

लघुकथा

निर्वाण

✍ आनंद बिल्थरे

- मि. सक्सेना !

- यस सर...

- कैसा चल रहा है ?

- सब, आपकी कृपा है सर.

- कोई तकलीफ़ ?

- नो सर! हम तो सेवक हैं आपके. जब तक आप हैं, कोई तकलीफ़ नहीं है.

- हम, आज इसी रेस्ट हाउस में मुकाम करेंगे.

- मेरा सौभाग्य है सर,... लेकिन डिनर में आप क्या लेंगे ?

- अरे कुछ विशेष नहीं! बस, यूं ही कुछ, हल्का फुल्का सा.

- सर, आप ब्राह्मण है, किंतु सुना है, नॉनवेज से परहेज़ नहीं करते !

- अरे भई, एक्जिक्यूटिव लाइन में, इतना सब, कहां निभ पाता है.

- फिर भी सर, चूंकि आपका यह पहला दौरा है, कुछ हिन्ट तो दीजिए. अगर, कहीं कुछ ऊंच नीच हो गयी, मैं अपने आपको माफ़ नहीं कर पाऊंगा.

- अरे नहीं सक्सेना! तुम खुद अनुभवी हो! वैसे यह समझ लो, पंखदार में पतंग और चौपाये में तख्त छोड़कर, सब कुछ चलता है. चलाना पड़ता है.

सक्सेना को लगा, मानों उसे बुद्धत्व की प्राप्ति हो गयी है. वह उठा, और अपने निर्वाण की सामग्री जुटाने की शीघ्रता में लगभग दौड़ता हुआ, बाहर चला गया.

प्रेमनगर, बालाघाट - ४८१ ००४.

साठ साल लंबा स्वप्न

✍ डॉ. देवेंद्र सिंह

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, बिकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गोतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है डॉ. देवेंद्र सिंह की आत्मरचना.)

लगभग छः दशक लंबा जीवन इतिहास की भांति मेरे सामने फैला है. यहां से देखता हूं तो लगता है, मानो साठ साल लंबा स्वप्न हो. जैसे नींद में चलता हुआ ही वहां से यहां तक चला आया हूं. जीवन की कैसी भी मार मेरा स्वप्न न तोड़ सकी. मैं स्वयं को पेट-परिवार के कूप में बंद करके न रख सका. किसी-न-किसी विधि कूप से कूदकर सागर में आ जाया किया. सोचता हूं मैं स्वप्नजीवी कैसे बन गया ? प्रकृति ने ही बनाकर भेजा था या जीवन की परिस्थितियों ने बना दिया या कि दोनों के योग से बना ? आइए, आरंभ से ही देखते हैं.

मेरा जन्म गांव में हुआ. एक किसान परिवार में संयुक्त परिवार था. पिता घर से बारह कोस दूर कोशी पार के एक कामत पर रहते थे. पर्व-त्योहार या यज्ञ-याजन में ही घर आते, साल में दो-एक बार, परिवार चलाने में उनकी भूमिका शून्य थी. वह अकेले मां को करना पड़ता. संयुक्त परिवार में वह भूमिका बड़ी विकट थी. मां को बहुत जूझना पड़ता. वह पूरी कथा यहां कहना संभव नहीं है. *(बचपन के उन अनुभवों को मैंने अपने एक उपन्यास 'बर्बरीक' में पिरोया है जो अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है.)* संक्षेप में इतना ही कि पिता के रहते भी मुझे अपना बचपन अनाथ जैसा लगता था और मां सुहागिन विधवा जैसी. मैंने कभी भी अपने को 'बाप का बेटा' नहीं माना. सब दिन मां का ही बेटा रहा.

पिता साधु स्वभाव के थे. ईमानदार तथा सत्यनिष्ठ. किसी का हित-हरण नहीं किया कभी. कामत पर जो खाता-बही लिखते, उसको जन-बनिहार, हलवाहे-बटाईदार धर्मराज का खाता मानते थे. शरीर से वे पहलवान थे. पर, प्रकृत्या अनाक्रामक, दब्बू. मां के शब्द में 'मुंहनुक्का' (मुंहचोर) तथा चुप्पा थे. यहीं कह दूं कि मैं 'बापहि पूत' हूं.

मां पिता का प्रतिलोम थी. जुझारू, आक्रामक, अपने पारिवारिक हितों के प्रति सचेत और चौकस. मगर उसकी एक बड़ी सीमा थी कि वह स्त्री थी, सो भी छः दशक पहले की स्त्री. वह तो कूदती पति का बल पाकर ही न. वह बल उसको नहीं था. इस कारण वह भीतर से कमजोर तथा असहाय महसूस करती. मां के मायके की पृष्ठभूमि भी ऐसी थी कि वह अपने को 'अभागी' समझती. जनमते ही मां मर गयी. नौ साल की हुई तो बाप को काट दिया. और ससुराल में जो जीवन उसके हिस्से में पड़ा उसने उसको असामान्य संघर्ष में डाल दिया. मां का हाल उस बकरी जैसा था जिसे अपने बच्चों को लकड़बग्घे से बचाने के लिए लगातार जूझना पड़ता है.

मैं बर्बरीक की भांति मां के उस संपूर्ण महाभारत को चुपचाप देखता. स्वभाव से भावुकता की हद तक संवेदनशील और अंतर्मुखी था. सो उलटी ही जीवन-यात्रा आरंभ हो गयी. मैं अंतर-गुहा में उतरता चला गया. और जब वर्ग पांच में था उसी समय अचानक साहित्य का द्वार मेरे लिए खुल गया. मेरे आदि कथाकार, जिनकी उंगली पकड़के साहित्य के जादू-लोक में प्रवेश किया, प्रेमचंद थे. मेरे गांव के पुस्तकालय में प्रेमचंद का संपूर्ण कथा-साहित्य था. प्रेमचंद को पूरा पढ़ने के बाद ही और कुछ पढ़ा. वह एक विराट लोक था जो इस वास्तविक संसार जैसा भी था और इससे भिन्न भी.

प्रेमचंद ने उस अबोध बालक को कई रंग-बिरंगे, चमकते पत्थर दिये थे और कहा था, 'बच्चे! ये हीरे-मोती, लालो-गौहर से भी कहीं अधिक कीमती हैं. इन्हें संभालकर रखना, खोना नहीं. जीवन में ये तुम्हारे काम आयेंगे.' वे मूल्य तथा आदर्श थे.

उन्हें पाकर तब मैं कितना धनी हो गया था! एक मद-सा भर गया था जीवन में. आज वे पत्थर ठीकरों से भी बदतर हो गये हैं. कोई मोल नहीं बचा है उनका! कई बार जी में आता है उन्हें उठाकर फेंक दूं. पर, फेंक भी नहीं पाता. सोचने लगता

हूं. मूल्यों-आदर्शों के बिना भी कोई समाज, कोई जीवन रहने-जीने लायक हो सकता है.

बालपन में प्रेमचंद के रचे प्रतिलोक में जो प्रवेश किया तो फिर कभी उससे बाहर न निकल पाया. एकाकीपन धुर बचपन में मीत बन गया था. एकांत मुझे वहीं से भाने लगा था. बाद में तो मैंने बार-बार डायरी पर उद्धृत किया. "The world is too much with us!' संसार से बेतरह घिरा, पर अकेला हूं. सड़कों पर अकेला, बाजार में अकेला, सभा-संगोष्ठी में अकेला और घर में भी अकेला. दोस्तों के बीच खूब ठहाके लगाता हूं, मगर भीतर एक भय-सा हरदम बना रहता है. ऊपर बेफिक्री के बोल उचरते हैं, भीतर भय का कंपन होता है. हां, भीतर एक भय-सा हरदम बना रहता है. लगता है, रूसो की 'ही भांति मैं और भय जुड़वां पैदा हुए हैं.

मैं आज जो कुछ भी हूं मां के कारण हूं. कभी-कभी सोचता हूं यदि वैसी मां नहीं मिली होती तो मैं आज क्या होता ? आश्चर्य है मां स्वयं तो निरक्षर थी मगर शिक्षा का मोल-महत्व खूब बूझती थी. मेरी पढ़ाई के प्रति वह जिद की हद तक सचेत थी. हालांकि वहां भी दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा और जो मैं और मां चाहते थे वह न हो सका. और वही मेरे सांसरिक जीवन का 'टर्निंग पॉइंट' बना.

अपने जीवन को देखता हूं तो समुद्र का बिंब उभरता है. समुद्र ऊपर से परम शांत दिखता है मगर उसके भीतर बड़वानल खौलता रहता है. प्रकटतः एकाकी, पर अंतर में एक विराट लोक छिपाये हुए अनगिनत जीव-जंतुओं को अपने अंतर-लोक में बसाये रहता है समुद्र.

जीवन को मैंने उसी तरह नहीं जिया, जिस तरह आम तौर पर लोग जीते हैं. लगभग 'आत्महंता' वाली शैली में ख़तरनाक तरीके से जीवन जिया. स्वयं को संकट में डालता रहा हूं. बार-बार लगातार और सपरिवार क्या-क्या भोग नहीं भोगे. तथापि मेरे अंतर में जो स्वप्नजीवी बैठा है, उस पर किसी भी अवस्था का कोई असर न पड़ा. वह बराबर सपना देखता रहा. अच्छे जीवन और समाज का सपना. अपने इर्द-गिर्द फैले संसार को वह देखता है और दुःख तथा हैरानी से भरकर सोचता है. मनुष्य क्यों इस प्रकार फिरकी की नाईं उम्र भर नाचता रहता है और नाचता हुआ ही जीवन से बाहर चला जाता है. पूरा जीवन 'धेला और ढेला' बटोरने में ही गंवा देता. क्यों सब ज़गह इतनी कलह, इतना युद्ध, इतनी हिंसा है ? इस कदर स्वकेंद्रित होकर क्यों जीता है मनुष्य ? काले सागर में उजाले का टापू बनाकर जीने में कौन-सा सुख है ? वह 'सुख' अमानुषिक है और असामाजिक भी. सबके मुख पर हंसी हो और जीवन में सुख-शांति, ऐसा समाज बने तो जीने में अधिक सुख (बल्कि, आनंद) मिलेगा कि नहीं ? यह कितनी सरल बात है, मगर कोई नहीं समझता. नतीजा सामने है, स्वर्ग का सपना देखने वाले पुरखों की संतान 'नरक में ठेला-ठेली' कर रही है. यह मनुष्य का सबसे ऋणात्मक पक्ष है.

वही 'अच्छे जीवन और समाज का सपना' साकार करने हेतु मैं अपना जीवन अर्पित कर देना चाहता था. मुझे लगता, खाली 'पेट-परिवार' तो पशु भी भरते हैं. मैं मनुष्य हूं मुझे सबके लिए सुख तथा शांति की खोज में लगना चाहिए और वह काम बिना संघ-बद्ध हुए होना संभव न था. सो कभी इस, कभी उस संगठन-आंदोलन से जुड़ता-बिछुड़ता रहा. वह पूरी कथा तो एक पोथे में भी न समायेगी, यह 'आत्मरचना' उसके लिए बहुत छोटी है. इस सितुवा में समुद्र कैसे अंटा दूं! मोटा-मोटी यही कि गांधीवादी से लेकर मार्क्सवादी तक कई संगठनों से जुड़ा (कुछ से अब भी जुड़ा हूं) और अंततः यह ज्ञान प्राप्त किया कि संगठन के लिए मैं सर्वथा अयोग्य हूं.

बहुत देर से यह समझ में आया कि मैं अपना सर्वोत्तम उपयोग रचना-कर्म के माध्यम से कर सकता था. एक साहित्य ही है जिससे पूरे जीवन-काल में मेरा सूत्र कभी, किसी भी अवस्था में नहीं टूटा. पढ़ने के साथ-साथ निरंतर लिखता भी रहा, मगर वास्तव में वह रचना नहीं, कागज़ रंगना भर था. रचना पर अपेक्षित श्रम करके उसे पूरा करना, पाठकों तक पहुंचाने का उद्योग आदि नहीं हो पाया. इसीलिए, इन दिनों मन में एक यह कचोट भी रहती है कि जीवन का एक बड़ा और महत्वपूर्ण भाग ऐसे कामों में गंवा दिया, जिनके लायक न था. वास्तव में जो एक वरदान था उसको बहुत हद तक खो दिया. ऐसा मूढ़ हूं कि यही नहीं जान पाया, किस लायक हूं. जब जाना, तब तक पूरा हाथी निकल चुका था. अब पूंछ पकड़ के झूल रहा हूं.

एक बेचैनी, भर जीवन मेरे भीतर कुंडली मारे रही. उसने मुझे बहुत भगाया-भटकाया. १९६२ में एम. ए. किया और दिल्ली भाग गया. भागा इसलिए कि 'बहरा सांप' ('शेष' कहानी विशेषांक) ने काट लिया. पीछे बीवी और एक बच्ची को छोड़ गया. पूरा एक युग वैसे ही विंडो पर चढ़ी पतंग की भांति भटकता रहा. बेचैनी की हवा जिधर उड़ाकर ले गयी उधर चला गया. एक बार तो 'लिटररी इंटरव्यूअर' का बिल्ला लगाकर गोरखपुर, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद और दिल्ली आदि घूमता रहा. कभी खेती करने लगा, कभी दूकानदारी. जब ऊबा, छोड़-छाड़कर चल दिया.

आख़िरकार, १९७३ के अंत में खुद को परिवार के खूंटे से बांधने का निश्चय किया. कैसा अजीबो गरीब फैसला था वह! न कोई नौकरी, न धंधा और एक दिन अपनी बीवी तथा दोनों बेटियों (इस बीच दूसरी भी हो गयी थी) को लेकर भागलपुर आ

गया. आने के बाद पांव टिकाने के लिए धरती खोजने लगा. धरती मिल भी गयी मगर वह पोली थी. भागलपुर इवनिंग कॉलेज (अब भागलपुर नेशनल कॉलेज) में पढ़ाने लगा. न नियुक्ति पत्र, न प्रस्ताव, न पद, न पैसा. तब यह संबद्ध महाविद्यालय था. व्यवस्था खानगी थी. शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) कॉलेज का संचालन करता था. 'शासी निकाय' क्या होता है और वैसे कॉलेज में काम करने वाले 'प्रोफेसर' का सच कैसा दारुण होता है इन बातों को मेरी कहानियों - 'खाली जेब जीवन' ('कथाबिंब' / 'तिरहुतिया' संकलन), 'तिरहुतिया' ('वसुधा' कहानी विशेषांक), 'पानीपत का मैदान' ('पश्यंती'), 'नपुंसक सुख' ('कला' / 'भोज' संकलन) आदि में देखा जा सकता है. १९७३ से १९८३ तक, पूरे दस साल सपरिवार बड़े भोग भोगे. और वह सब इसलिए कि खुद को 'खूंटे में' बांधने के बाद भी मैं हर वक्त खूंटा उखाड़ने या रस्सी तुड़ाने के ही प्रयत्नों में लगा रहा.

१९७३ में इवनिंग कॉलेज आया और १९७४ में जब जय प्रकाश आंदोलन फूटा तो उसमें कूद पड़ा. कुछ दिन आंदोलन करने के बाद जब उससे मोहभंग होने लगा तब फिर कॉलेज लौट आया. पर नौकरी के प्रति कभी सचेष्ट न रहा. परिणाम कितना रोचक रहा देख लीजिए. व्याख्याता के रूप में आरंभ किया, बीच में रीडर बना. फिर जब बिहार के हजारों शिक्षकों पर लालूजी ने 'डिमोशन' का खड्ग चलाया, मामला सुप्रीम कोर्ट तक गया और सुप्रीम कोर्ट के आदेश पर सबकी 'रीस्क्रीनिंग' हुई तो मुझे जूनियर रीडर बना दिया गया. क्रम यहीं नहीं रुका. सांप-सीढ़ी के खेल में जैसा होता है, ९७ के अंक पर जाकर (सेवा-निवृत्ति के बिल्कुल निकट) मुझे सांप खा गया और मैं सरसराकर नीचे आ गया. व्याख्याता से आरंभ किया था व्याख्याता के रूप में अंत किया. ऐसा सिर्फ मेरे ही साथ नहीं हुआ था. बहुतेरे थे वैसे. और लोग पैरवी-पैसा से संशोधन करा लाये, मैं एक प्रतिवेदन फेंककर बैठ गया. सेवा-निवृत्ति के बाद व्याख्याता के वेतन मान पर मेरी पेंशन निर्धारित हुई. सेवा-अवधि मात्र सतरह साल मानी गयी. एक युग उधर गंवाकर आया था, एक दशक यहां खो दिया. लाखों का चूना लगा. तनाव-अवसाद, चिंता-बेचैनी सब फाव में पर इस सब से वह स्वप्नजीवी कतई बेअसर रहा. वह यथावत स्वप्न बुनता रहा.

यह एक बानगी भर है. ऐसे घनेरों घटना-प्रसंग हैं मेरे जीवन में. अब यदि दुनियादारी के चश्मे से देखता हूं तो अपने आप से घृणा होने लगती है. लगता है सब लोग जो करते हैं वह मुझे भी करना चाहिए था. पर, 'सब लोग जो करते हैं' वाले तर्क से वह 'स्वप्नजीवी' कभी भी सहमत नहीं हो पाता है. वह कहता है, 'सब लोग यदि गू खाने लगें तो क्या मैं भी खा लूं!' 'जेनुइन' काम में दौड़-धूप, घूस-पैरवी क्यों ? दोषी मैं नहीं, समय और व्यवस्था है. और आप जानते हैं, बिना वह सब किये आज कोई भी काम होता नहीं. यथार्थ और यूटोपिया का यही द्वंद्व मेरे जीवन में आरंभ से लेकर आज तक एकतार है. और इसलिए मेरी रचनाओं में भी यह द्वंद्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है. ('छाया-युद्ध' नाटक का मूल कथ्य यही द्वंद्व है.)

मेरी प्रकृति में एक विचित्रता यह भी है कि मुझमें 'अधिकार-बोध' है ही नहीं. मैंने कभी किसी चीज़ पर अधिकार नहीं माना या जताया. कभी जताने भी गया तो अंतर में एक ग्लानि-भरा संकुचन महसूस होता रहा. अधिकार भी कृतज्ञता-बोध के साथ ग्रहण किया. इस कारण भी काफी कुछ खोना पड़ा.

मनुष्य की यह सनक मुझे विचित्र लगती है कि वह अपने को धरती का स्वामी मानता है. यह धरती जाने कब से है और कब तक रहेगी. मनुष्य कुछ सालों की उम्र लेकर आता है और स्वयं को धरती का स्वामी घोषित कर देता है. कोई बता सकता है, 'स्वामित्व' के झगड़ों में बहा कितना लहू अब तक पी चुकी होगी धरती ? यह धरती किसी की दासी नहीं है. यह सबकी मां है और मां एक बच्चे की नहीं, सब बच्चों की होती है. इसलिए, 'वीर भोग्या वसुंधरा' आदि जैसी लोक उक्तियां मुझे हास्यास्पद लगती हैं. मनुष्य को किसी भी भांति यह समझाना आवश्यक है और यही उसके हित में भी है कि धरती और इसका दिया सारा धन सबका है. 'दोलां न झोटां' (प्रेम से या बल से) मनुष्य को यह समझना ही पड़ेगा.

धरती और धन को लेकर मनुष्य के ऐसे-ऐसे रूप तथा झगड़े देखे हैं. उन झगड़ों के ऐसे भयानक परिणाम देखे हैं कि मुझे 'संपत्ति' के नाम से ही घृणा हो गयी है. संपत्ति को मैं 'महामाया' कहता हूं. स्त्री रूपी माया इसके आगे पानी भरती है. 'लोककथा की द्रौपदी' ('संवेद' / अपना तीसरा संकलन इसी नाम से देने का मन है.) के राघव बाबा कहते हैं, 'पैसा है घोड़ा. तुम जब तक घोड़े पर सवारी करते हो, तब तक तो ठीक है मगर जब घोड़ा ही सवार पर सवारी करने लगे तो बड़ी विपत्ति है. वह विपत्ति मनुष्य पर आयी हुई है.'

अपनी बपौती संपत्ति बोहा-भंसाकर लगभग 'लैंडलेस' हो जाने के बाद मुझे जान हल्की हुई-सी लगी. मैं कहा करता हूं, 'लोग यहां कमाने आते हैं, मैं गमाने आया हूं.' 'गमाने' में मुझे अजीब किस्म का सुख मिलता है. यहां आदमी को संपत्ति के आंकड़ों में तोलने का चलन है. मुझे वह चलन नहीं सुहाता. 'अपने लोगों के बीच' ('वागर्थ') के नीलांबर दा का यही तो दर्द है! मैं अपने पीछे संपत्ति के रूप में अपनी रचनाएं छोड़कर जाना चाहता हूं.

मैं अक्सर तीन 'प' की चर्चा करता हूं. पहला 'प' पुत्र, दूसरा पैसा, तीसरा पद ! पहला 'प' अंकुर, शेष दोनों द्विदल. आम

तौर पर लोग अपने लिए नहीं, प्रथम 'प' के लिए जीते, अरजते और क्या कुछ नहीं करते हैं. कितनी हैरानी की बात है कि वे वर्तमान में नहीं, भविष्य में जीते हैं. भविष्य में जीना क्या संभव है ? कहा गया है, "Don't think of the morrow, for the morrow is a myth!" कल है ही नहीं, जो कुछ है आज है, 'अब' है. पर लोग 'अब' में नहीं 'कल' में जीते हैं.

मुझे प्रकृति ने प्रथम 'प' से काट दिया. दो बच्चे दिये, दोनों ही बेटियां. इससे अधिक 'अफोर्ड' नहीं कर सकता था. मैं अपने को जानता था. मैंने अपनी जड़ ही काट दी. उसके साथ ही प्रथम 'प' की भी जड़ कट गयी. उसके कटते ही शेष दोनों 'प' अपने आप सूखने लगे. मगर अपनी जड़ काटकर भी मैं मरा नहीं. इस बात को एक कविता में कहने की चेष्टा की है. तो आइए, बीच में थोड़ी कविताई भी हो जाय.

'एक पेड़ हूं मैं / गिरा पड़ा धरती पर / उसकी जड़ मैंने खुद काटी है / नहीं, मैं उसे मारना नहीं चाहता था / मैं तो उसे अमर बनाना चाहता था / ध्यान से देखो / उसके तने में असंख्य जड़ें उग आयी हैं / वह पेड़ अब एक पेड़ भर नहीं है / वह सर्वत्र फैल गया है / घरों में / दफ़्तरों में / पुस्तकालयों में / बाजार में भी है वह / और श्मशान में भी / जन्म से लेकर मरन तक / वह जीवन के साथ है !'

प्रकृति ने मुझे भरपूर सताया और बचाया भी उसी ने. मेरे स्वभाव में उसने बाल-तत्व भर दिया है. जब भी चोट खायी, बच्चे की ही भांति बिलबिला उठा, मगर ज़ल्दी ही उसे भूल भी गया. मुझे किसी से कभी कोई गिला न रहा. दूसरों द्वारा की गयी बड़ी-से-बड़ी बुराई का भी रचनात्मक उपयोग किया और उनका आभार ही माना.

बातें तो बहुत हैं, मगर अब थोड़ा सा रचना-यात्रा के बारे में. मेरी रचना-यात्रा बहुत विलंब से आरंभ हुई. जिस उम्र में भाई लोग 'न लिखने का कारण' खोजते हैं, उस उम्र में मेरे रचनाकार का जन्म हुआ. इस प्रकार, मेरी अपनी और मेरे रचनाकार की उम्र में बहुत अंतर है. मैं सेवा-निवृत्त, बूढ़ा होता आदमी हूं, जब कि मेरा रचनाकार बीती सदी के अंतिम दशक में पैदा होने के कारण एकदम 'छवारिक' है.

कायदे से मेरी जो पहली कहानी ('बंटवारा' / 'मुहिम' प्रवेशांक, १९९१) प्रकाशित हुई, वह उम्र के एकावनवें वर्ष में. गिनती गिनाने भर को उसके पूर्व दो कहानियां स्थानीय पत्रिकाओं में आयी थीं. पहली १९६३ में 'मजबूरी' ('कलश') और दूसरी १९८६ में 'अंखफोड़वा' ('शिरीष कथा'). 'बंटवारा' के बाद से नियमित लेखन हो रहा है और अब तक कई दर्जन कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रकाओं में आ चुकी हैं.

कहानिया तो खैर पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों तक पहुंच जाती हैं. चिंता उन रचनाओं को लेकर होती है जो तैयार होकर पड़ी हैं. एक उपन्यासिका ('आमुख कथा') इलाहाबाद में भाई अनिल श्रीवास्तव (संपादक : 'कथ्य-रूप' / 'लंबी कहानियां') के पास कई वर्षों से पड़ी है. एक उपन्यास ('बर्बरीक') और एक नाटक ('छाया-युद्ध') घर में पड़े हैं. तैयार रचनाओं का घर में पड़ा रहना वैसा ही संताप देता है जैसा विवाह-योग्य बेटियों को घर में देखकर बाप को होता है.

दो कहानी संकलन ('तिरहुतिया' तथा 'भोज') खुद से छपाये. उनके दाम बाजार के हिसाब से आधे से भी कम रखे, ताकि पाठक खरीद सकें. पर, उनकी 'मार्केटिंग' न हो सकी. अब समझ में आया कि रचना करना और रचना को 'माल' बनाकर बेचना दोध्रुवीय कर्म हैं. संकलनों के 'प्रकाशकीय' में प्रकाशन तथा पठन की समस्याओं का जिक्र किया है. उन बातों को दुहराऊंगा नहीं. इतना भर रेखांकित करना चाहूंगा कि हिंदी में पुस्तकें लिखी जाती हैं, छापी भी जाती हैं पर पाठकों द्वारा पढ़ी नहीं जातीं. कारण उनके दाम 'सरकारी खरीद' के हिसाब से रखे जाते हैं. कहना चाहिए, वे छापी ही जाती हैं सरकारी खरीद के लिए. वे पढ़ी जाती हैं बहुत थोड़े से साहित्यकारों द्वारा, जिनको मुफ्त में मुहय्या हो जाती हैं. पाठक उनको तभी पढ़ पाते हैं, जब उनका 'सस्ता संस्करण' आता है, हालांकि वह भी 'सस्ता' नहीं होता है. तथापि, कुछ पाठक पढ़ ही लेते हैं. तब तक उन पर बात-कथा होकर समाप्त हो चुकी होती है. साहित्यकार लोग ही आपस में बात-विचार करके संतोष पा लेते हैं. मगर वे पाठकों के न होने का रोना ज़रूर रोते हैं और बार-बार रोते हैं.

हम पाठकों के लिए लिखते हैं और हमारा लेखन उन तक नहीं पहुंच पाता है, तो हो गया न सारा गुड़ गोबर! इस अंतर्विरोध से कैसे उबरा जाय ? यह ऐसा मुद्दा है जो पूरे एक आंदोलन की मांग करता है. आज जो भी छोटा-सा पाठक वर्ग है उसको बनाने-बचाने का श्रेय उन संपादकों को जाता है जो सस्ते दामों में पत्रिकाएं छापकर उनको उपलब्ध करा रहे हैं. कई पत्रिकाएं भी तो अब इतनी महंगी हो गयी हैं कि पाठक उनको देखते हैं और मन मसोसकर रह जाते हैं.

अंत में कहूंगा कि लेखन मेरा सबसे बड़ा सुख है. मेरी दैनंदिनी में 'अमृत घटी' वही है. लेखन मेरा 'सामाजिक सरोकार' भी है. मैं इस बात को नहीं मानता कि सामाजिक परिवर्तन में साहित्य (संस्कृति) की कोई भूमिका नहीं होती. साहित्य ज़मीन तैयार करता है, जिसमें परिवर्तनकारी चरित्र उगते हैं. साहित्य-संस्कृति से कटता जाता समाज किस बंजर में आकर खड़ा है, देख लें. साहित्य-संस्कृतिकर्मी की सामाजिक भूमिका बड़ी अहम है. मगर वह भूमिका तब तक अधूरी है जब तक अपने लोगों के साथ उनका सूत्र ठीक से जुड़ नहीं जाता.

'देवगिरि,' आदमपुर घाट मोड़,
भागलपुर (बिहार) - ८१२ ००१

सागर / सीपी

'साहित्य में आंदोलनों का कोई स्थान नहीं होता'

- वीरेंद्र कुमार गुप्त

('कथाबिंब' के लिए श्रीयुत वीरेंद्र कुमार गुप्त से डॉ. रूपसिंह चंदेल की भेंटवार्ता)

*[हिंदी साहित्य में कुछ घटनाएं ऐसी घटित होती हैं जो इतिहास बन सकती हैं, लेकिन बन नहीं पातीं या बनकर भी इतिहास (साहित्य) के पन्नों में दफ़न होकर रह जाती हैं. वरिष्ठ कथाकार, कवि और चिंतक वीरेंद्र कुमार गुप्त के साथ भी एक ऐसी ही घटना घटित हुई. गुप्त जी ने विश्व-साहित्य में सबसे बड़ा साक्षात्कार करने का कीर्तिमान स्थापित किया. कथाकार-चिंतक जैनेंद्र कुमार के साथ उनका यह साक्षात्कार **'समय और हम'** शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ (प्र. सं. फरवरी १९६२), जिसका पूरा श्रेय जैनेंद्र जी ने अपने खाते में दर्ज़ करते हुए पुस्तक पर लेखक के रूप में अपना नाम प्रकाशित करवाया, जबकि सिद्धांततः जैनेंद्र जी के स्थान पर वीरेंद्र जी का नाम होना चाहिए था. यह दीर्घकाय पुस्तक लगभग छः सौ पृष्ठों में है, जिसमें साक्षात्कर्ता ने जैनेंद्र जी के दार्शनिक पक्ष को बखूबी उभारने का प्रयत्न किया है. पुस्तक को लेकर जैनेंद्र जी और वीरेंद्र जी के मध्य कुछ विवाद भी रहे, लेकिन जैनेंद्र जी के प्रति वीरेंद्र जी के श्रद्धाभाव वश वह सब प्रकाश में नहीं आ पाया. आज भी वीरेंद्र जी उसे प्रकाश में नहीं लाना चाहते, अन्यथा शायद जैनेंद्र जी के जीवन के उस पक्ष पर अवश्य प्रकाश पड़ सकता है.*

वीरेंद्र जी एक संघर्षशील एवं कर्मठ रचनाकार हैं. प्रचार-प्रसार से दूर रहने के कारण वे पाठकों की दृष्टि से ओझल रहे. २९ अगस्त, १९२८ को सहारनपुर में जन्में वीरेंद्र जी की अब तक हिंदी-अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'विष्णु गुप्त चाणक्य', 'प्रियदर्शी', 'विजेता (उपन्यास), 'राधा' (खंडकाव्य), 'अहिंसा इन इंडियाज डेस्टिनी' (अंग्रेजी) अत्यधिक चर्चित रही हैं. प्रस्तुत है गुप्त जी से जीवन, साहित्य, समाज राजनीति आदि विषयों पर हुई बातचीत.

● आपने कब से लिखना प्रारंभ किया ? लेखक बनना ही है, यह निर्णय लेकर लिखना प्रारंभ किया था, या पारिवारिक पृष्ठभूमि में कहीं कुछ ऐसा था जिससे आपको साहित्यकार बनने की प्रेरणा मिली हो !

पंद्रह-सोलह की आयु में लिखना प्रारंभ किया था. लेखक बनना ही है, ऐसा कोई निर्णय नहीं लिया था. मेरे पिता जी लिखते थे. उनका प्रेस था. पत्रिका निकालते थे. उनके पास समृद्ध पुस्तकालय था. पुस्तकें पढ़ने का प्रारंभ से ही शौक था. उसीसे प्रेरणा मिली थी.

● हिंदी प्रचार में आपके पिता जी की जो रुचि थी उससे प्रेरणा लेकर आपने भी प्रचार कार्य किया था ?

मैं नहीं कर सका. १९४२ में सरकार ने हमारा प्रेस बंद करवा दिया था. पिता जी को सहारनपुर छोड़ना पड़ा था.

● ऐसा क्यों हुआ ?

१९४२ में पिता जी कई बार जेल गये...स्वतंत्रता आंदोलन के कारण जब वे राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़े तब कांग्रेस का अधिकांश साहित्य हमारे प्रेस में छपने लगा था. इसलिए वे सदैव सरकार की नज़र में रहे. उन्होंने कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं, जो सरकार द्वारा प्रतिबंधित थीं. उसमें एक पुस्तक थी लक्ष्मीचंद गुप्त की 'आज़ादी की लड़ाई'. लक्ष्मीचंद जी को पंजाब से निष्कासित किया गया था. वे सहारनपुर आकर रहने लगे थे. हमारे प्रेस के बंद होने का मुख्य कारण वह पुस्तक ही थी.

● दिल्ली आने के बाद जीविका का क्या साधन रहा ?

पिता जी ने प्रेस से संबंधित कार्य ही किये, लेकिन १९४४ में मैंने ग्यारहवीं पास की और 'आर्मी हेड क्वार्टर्स' में क्लर्क हो गया था. १९४६ में हमें 'रिट्रेन्च' कर दिया गया, क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया था. इसके बाद मुझे 'सप्लाई एंड डिस्पोजल्स' में नौकरी मिली. १९४९ में मैंने वह नौकरी छोड़ दी और अध्यापक हो गया. नौकरी करते हुए मैंने तब तक बी. ए. कर लिया था.

● सहारनपुर से उखड़ने के बाद और दिल्ली में व्यवस्थित होने तक आपका लेखन चलता रहा ?

लेखन भी चलता रहा और पढ़ना भी. मेरी पहली पुस्तक नाटकों की थी, जो १९५२ में 'आत्माराम एंड सन्स' से प्रकाशित हुई थी. नाम था - 'सुभद्रा'.

● कथा-साहित्य के प्रति आपका झुकाव कैसे हुआ ?

स्वाभाविक रूप से...मैंने पहले कहानियां लिखीं, लेकिन वे प्रकाशित नहीं हुईं. १९६१ में पहला उपन्यास 'मध्य रेखा' लिखा. यह उपन्यास मेरे छोटे भाई कथाकार योगेश गुप्त ने १९६२ में प्रकाशित किया.

● 'मध्य रेखा' की पृष्ठभूमि क्या थी ?

स्त्री-पुरुष के द्वंद्व को आधार बनाया था. इसमें दो अलग-अलग विचारधाराओं के संघर्ष को चित्रित किया गया है.

● व्यापक फलक के कारण उपन्यास धैर्य और समय की मांग करता है. दोनों को लेकर आपने कभी असुविधा अनुभव की है ?

धैर्य तो था ही और अध्यापक होने के कारण समय भी निकाल ही लेता था. 'प्राणद्वंद्व' में तीन वर्ष लगे थे और 'विष्णु गुप्त चाणक्य' (राजकमल प्रकाशन) छः वर्षों में पूरा हुआ था.

● समाज में इतना सब घटित हो रहा है... होता रहा है, उसके प्रति आकर्षित न होकर आप ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के प्रति आकर्षित होते रहे...उन्हें चुना उसका कोई तो स्पष्ट कारण रहा ही होगा ?

मुझे अलग-अलग चीज़ों ने प्रभावित किया. व्यक्ति की जो मनोवैज्ञानिक समस्याएं हैं या तो मुझे उन्होंने प्रभावित किया या हमारे भारतीय इतिहास की जो सबसे बड़ी समस्या थी, वह यह कि क्या कारण रहा कि दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले से हम इतने कमज़ोर हो गये थे. हमारा राजनैतिक चिंतन इतना विकृत हो गया था कि आक्रमणकारी थोड़े-से सैनिक लेकर आता था और सीधे बंगाल तक अबाधित चला जाता था. यदि प्रतिरोध होता भी था तो कमज़ोर. इसके पीछे क्या कारण थे ? इसी समस्या के मंथन में से मैंने ये उपन्यास 'चाणक्य', 'प्रियदर्शी' और 'विजेता' लिखे. इसी विषय पर जैनेंद्र जी के साथ मेरा लंबा संवाद चला, जो 'समय और हम' नाम से प्रकाशित हुआ. उसमें अहिंसा दर्शन पर चर्चा हुई. अंततः मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि यह एक नकारात्मक दर्शन है, जो भारतीय चिंतन और मानसिकता पर बढ़ता गया, जिसमें संसार का निषेध, संसार को निकृष्ट मानना और कुछ आध्यात्मिक या आत्ममूल्यों या आत्मा के मोक्ष या निर्वाण या कैवल्य को सर्वाधिक महत्व देना कि वह सबकी मानसिकता को प्रभावित करे, यह हमारी राजनैतिक पराजय का कारण बना.

● आपकी दृष्टि में सांसारिकता से मुक्ति का भाव हमारे राजनैतिक पराभव का कारण रहा ?

जी हां. विष्णुगुप्त चाणक्य ने आक्रमणकारी सैल्यूकस को सिंधु नदी के तट पर पराजित किया, ऐसा बाद में नहीं हुआ. जैसे-जैसे इस चिंतन का प्रभाव, विशेषकर बौद्ध और जैन चिंतन का प्रभाव बढ़ा नकारात्मकता-नास्तिकता बढ़ती गयी.

● नास्तिकता या नकारात्मकता... ?

नकारात्मकता...संसार की समस्याओं की चिंता न करना (इसकी आवश्यकता नहीं है, यह कहकर मान लिया गया). तब से राजनैतिक चिंता...या कहिए कि चिंतन समाप्त हो गया.

● हिंदी के कुछ कथाकार मानते हैं कि ऐतिहासिक लेखन अतीतजीवी बनाता है और अतीत सदैव मनुष्य को कमजोर करता है. आपका इस विषय में क्या सोचना है ?

मैं ऐसा नहीं मानता. इतिहास को, अतीत को पुनर्जीवित तो किया नहीं जा सकता. इतिहास के अध्ययन का...विश्लेषण का...जो कुछ भी अतीत में घटित हुआ उसके विश्लेषण का काम अवश्य...

वीरेंद्र कुमार गुप्त

● व्यवधान के लिए क्षमा, मेरा प्रश्न था कि हमारे कुछ अग्रज लेखक ऐतिहासिक लेखन को प्रतिगामिता मानते हैं ?

यह प्रतिगामिता नहीं है. प्रतिगामिता यह तब होगी जब आपका लक्ष्य अतीत का निरपेक्ष अध्ययन न होकर इतिहास के किसी काल-क्षण या घटना के प्रति अनुचित लगाव हो. आपका उद्देश्य उसका अध्ययन करना है, क्योंकि मनुष्य की समस्याएं जिस स्तर की तब थीं वे ही अब भी हैं. अध्ययन से हमें अतीत की चूकों का...अतीत की भूलों का, जो हमारी पराजय-विजय हैं...उनके विश्लेषण का अवसर मिलता है. उनसे हमें अपने वर्तमान में मार्गदर्शन मिल सकता है...सहायता भी...

● आपने एक प्रकार से अभी तक ईसा पूर्व के पात्रों को चित्रित किया है. कोई ऐसी योजना है, जिसमें मध्य या परवर्ती मध्यकाल पर लिखने का विचार हो ?

जो कुछ लिखा उसमें भारत के राजनैतिक चिंतन में जो अधोगति आयी उसको 'ट्रेस' करना ही मेरा उद्देश्य रहा. अब मैं पृथ्वीराज चौहान पर लिखना चाहता हूं. राजनैतिक चिंतन का सर्वाधिक पतन मुझे पृथ्वीराज चौहान में नज़र आता है. आख़िर क्यों हुआ ऐसा कि जब गौरी बिल्कुल आपके नगर के दरवाज़े पर आ गया तभी आप अपने निवास से निकलते हैं. आप उसे हरा देते हैं. लेकिन तब आप यह क्यों नहीं सोचते कि उसे उस स्थिति में ला दें जिससे वह पुनः आक्रमण न कर सके. लेकिन वह करता है और आप हारते हैं. वह जो हार थी वह केवल दो राजाओं की हार-जीत नहीं थी. वह दो संस्कृतियों की हार-जीत थी और उस एक हार ने पूरे भारत के आगे के इतिहास को प्रभावित किया.

● चौहान एक अहंकारी और मूर्ख राजा था ?

जी हां ! उसकी बेटी बेला का विवाह और फिर पति की चिता में उसका आत्मदाह इसके प्रमाण हैं. जो व्यक्ति अपनी बेटी को उसके वैवाहिक सुख से वंचित रखता है... एक दिन भी वह पति सुख नहीं पाती, उसके विषय में सोचा जा सकता है.

● आज के सांप्रदायिक तनाव को आप राजनीति का परिणाम मानते हैं ?

सांप्रदायिकता की परिभाषा क्या है ? सवाल यह है कि जो दो वर्ग (धर्म) हैं उनके बीच रिश्तों की स्थिति क्या है ? कौन-सा वर्ग कितना लचीला है और कितना हठीला है ! राजनीति, संप्रदाय, धर्म, ये सब चीज़ें किसी न किसी बात के साथ कम-अधिक जुड़ी रहती हैं.

● इस देश में सांप्रदायिक तनाव प्रारंभ से अर्थात, जब से यहां आक्रांता आये तब से ?

तब से है... लगातार...

● लेकिन जिस प्रकार आज सांप्रदायिक दंगे हो रहे हैं, बल्कि एक वर्ष में अनेकों ज़गह ऐसा होता है, ऐसा १९४७ से पहले कम था ?

तीसरे और चौके दशक में बहुत दंगे हुए थे.

● १८५७ से पूर्व की क्या स्थिति थी ?

१८५७ से पूर्व आजकल जैसे दंगे नहीं होते थे, क्योंकि शासन मुसलमानों का था. लेकिन बाद में मुसलमानों के साथ दिक्कत यह रही कि अंग्रेजों द्वारा मुस्लिम सत्ता ले लिये जाने के तथ्य या सत्य को उन्होंने स्वीकार करने से इंकार कर लिया.

● लेकिन १८५७ की क्रांति की असफलता के बाद जो दंगे शुरू हुए इसका श्रेय अंग्रेजों को दें या मुसलमानों या हिंदुओं को ?

उसके लिए प्रथमतः अंग्रेज दोषी थे. दूसरा श्रेय मुस्लिम समाज के अभिजात्य नेताओं को जाता है. वे अपने समय के शासक वर्ग थे. वे इस बात को नहीं पचा पा रहे थे कि जो हिंदू कल तक उनके अधीन थे उन्हें कोई महत्ता मिले.

● महत्ता किससे ?

अंग्रेजों से.

● बातचीत को दूसरी ओर मोड़ते हैं. 'समय और हम' की प्रेरणा आपको कहां से मिली थी ?

मैं गांधीजी के अहिंसा सिद्धांत के प्रति बहुत समर्पित रहा. १९६० तक. जैनेंद्र जी से मेरा संपर्क १९५२ में हुआ था. १९६१ में, एक दिन उनके पास गया. कुछ प्रश्न मन में थे. प्रश्न उनके समक्ष रखे. उन्होंने उत्तर लिखने के लिए कहा. बीस-पच्चीस पृष्ठ बने. इससे मुझे कुछ और प्रश्न करने का प्रोत्साहन मिला. जैनेंद्र जी भी उत्साहित थे. मेरा मूल प्रश्न था कि आज की जो राजनैतिक-सामाजिक समस्याएं हैं उनका हल क्या अहिंसा से संभव है ? इस प्रकार एक बातचीत से शुरू हुए प्रश्न आगे बढ़ते गये. परिणाम 'समय और हम' के रूप में पाठकों के सामने आया. यह लगभग छः सौ पृष्ठों की पुस्तक है.

● जैनेंद्र जी के साथ उस पुस्तक पर विवाद किस बात पर था ?

विवाद लेखक के रूप में नाम न जाने का था, क्योंकि उसमें मैंने प्रश्न ही नहीं किये थे. उसका संपादन भी किया था. भूमिका भी लिखी थी, जिसे जैनेंद्र जी ने सराहा था और उस भूमिका की पांच सौ प्रतियां छपवाकर भारत के चिंतकों के पास भेजी थीं. कुछ विवाद कॉपीराइट के अधिकार को लेकर भी था. कॉपीराइट के नियमानुसार प्रश्नकर्ता पुस्तक के 'कॉपीराइट' का अधिकारी होता है. जो उत्तर देता है वह नहीं होता. चूंकि पुस्तक जैनेंद्र जी के नाम से छपी थी, इसलिए मुझे कुछ नहीं मिला.

● जैनेंद्र जी के साथ आपके संबंध कितने वर्षों तक रहे ? उनके साहित्य से आप कितने प्रभावित थे ?

संबंध १९५२ से मृत्युपर्यंत तक रहे. उनके साहित्य से, भाषा शैली से मैं प्रभावित रहा. लेकिन जैनेंद्र जी के साथ एक लेख में मैंने लिखा भी है कि उनके जो पात्र हैं वे उनके विचारों को डिमॉन्स्ट्रेट करने वाली कठपुतलियां मात्र हैं. सजीव, स्वतंत्र मानव के रूप में उनके पात्र उभर नहीं पाये. मुझे उनकी यह कमजोरी सदैव खटकती रही.

● जैनेंद्र जी के जीवन की कोई व्यक्तिगत कमजोरी आप बतायेंगे, साहित्यिक जोड़-तोड़ जैसा कुछ... ?

देखिए, कमजोरियां तो सभी में होती हैं, मुझमें भी हैं. साहित्यिक जोड़-तोड़ जैसा कुछ नहीं था. हां, उन्होंने एक ग़लती अवश्य की थी. मैं समझता हूं कि किसी लेखक को वह नहीं करना चाहिए. उन्होंने साहित्य स्वयं छापने, प्रचारित करने और बेचने का जो काम किया... वह उन्हें नहीं करना चाहिए था. ऐसा शायद उन्हें इसलिए करना पड़ा, क्योंकि उनके पास जीविका का कोई पक्का साधन नहीं था. लेखन ही एकमात्र साधन था. और उन्हें सदैव पैसों की कमी रहती थी.

● जैनेंद्र जी का साहित्य सदैव चर्चा में रहा... उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार क्यों नहीं मिला ?

इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता. इतना अवश्य जानता हूं कि जो 'ज्ञानपीठ' देने वाले लोग हैं उनसे उनका घनिष्ठ संबंध था. लेकिन पीछे की कहानी क्या है... यह तो वे ही जानें.

● जैन परिवार से उन्हें वार्षिक सहयोग भी मिलता रहा ?

बिल्कुल मिलता रहा.

● हिंदी में और किन साहित्यकारों ने आपको प्रभावित किया ?

प्रसाद और प्रेमचंद ने.

● नये लेखकों को आप पढ़ते हैं ?

बहुत कम.

● आपका संपर्क जैनेंद्र जी के अतिरिक्त अन्य किन बड़े (वरिष्ठ) रचनाकारों से रहा ?

विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त और डॉ. हरिवंशराय बच्चन से.

● 'विष्णु' जी को 'अर्द्धनारीश्वर' पर साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया गया. इस विषय में आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

'अर्द्धनारीश्वर' मैं पूरा नहीं पढ़ पाया. पढ़ना बहुत कठिन है. कठिनाई यह है कि उपन्यासकार सचेतन मन से निश्चित करके अपनी प्रतिक्रियाओं को कैलकुलेट करके नहीं लिख सकता. लेकिन उसमें ऐसा किया गया है. एक औपन्यासिक अंतर्संघर्ष पात्रों के बीच में और लेखक के बीच में साथ-साथ चलता है, जिसमें से पूरा कथा-सूत्र, घटनाएं पात्र और बातचीत निकलती है. वह सब उसमें नहीं है.

● आप विष्णु जी के निकट रहे हैं, इसलिए एक प्रश्न और... विष्णु जी को यह पुरस्कार इतने विलंब से दिया गया... क्या यह उचित न रहा होता कि यह उन्हें 'आवारा मसीहा' के लिए दिया गया होता ?

आप ठीक कह रहे हैं.

● इसका क्या कारण रहा होगा ? क्या पुरस्कारों की राजनीति के कारण ? आप मानते हैं कि पुरस्कारों की राजनीति होती है ?

मैं तो जहां तक (दूर से) देखता, सुनता और समझता हूं, पुरस्कारों की राजनीति होती है. बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो साहित्यिक नहीं हैं, उन्हें ध्यान में रखकर पुरस्कार दिये जाते हैं.

● 'साहित्य अकादमी' में भी ऐसा होता है ?

मैं आधिकारिक रूप से नहीं कह सकता, किंतु जिस तरह से बातें सामने आती हैं उससे लगता है कि वहां भी गड़बड़ है.

● १९५२ के आसपास जिन दिनों आपने लिखना प्रारंभ किया था, उन दिनों साहित्य में बड़ी संख्या में लोग सक्रिय थे. 'नयी कहानी' आंदोलन का दौर था. उससे जुड़े लेखक उपन्यास भी लिख रहे थे. आप उन रचनाकारों के संपर्क में थे ?

कुछ के संपर्क में था.

● कुछ लोगों से अभिप्राय ?

मेरे छोटे भाई योगेश गुप्त के माध्यम से कई लोग मिलते-जुलते थे. गोष्ठियां होती थीं. लेकिन नयी कहानी आंदोलन से न तो मुझे कोई लगाव रहा और न मैं इससे कभी प्रभावित हुआ. मैं 'कहानी' को जानना या समझना चाहता हूं... 'नयी और पुरानी' का जो तर्क है वह मेरे समझ में कभी नहीं आया.

● आप यह इसलिए तो नहीं कह रहे कि आपने कहानी नहीं लिखी या.. ?

नहीं. उन लोगों ने उसी शैली के उपन्यास भी लिखे हैं.

● प्रश्न वही है...नयी कहानी नाम...?

यह एक आंदोलन था और आंदोलन जब चलाये जाते हैं तब कुछ लोग अपने को विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए या अपने को स्थापित करने के लिए आंदोलन चलाते हैं. नयी कविता का आंदोलन भी एक ऐसा ही आंदोलन था. 'नयी कहानी' पश्चिम में कामू, सार्त्र आदि ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जो त्रास और यातनाएं भोगी थीं...उन संघर्षों ने जो प्रतिक्रियाएं उनके मन में पैदा की थीं, उन्हें अंकित किया था, लेकिन इन लोगों ने उनकी स्थापनाओं ...उनके विचारों, उनके भावों को ज्यों का त्यों लेकर अपने को व्यक्त करने की कोशिश की.

लघुकथाएं

सीख

✍ डॉ. रामकुमार तिवारी

रिक्शावाला बाज़ार से पहले ही रुक गया तो मैंने कहा, "चलो बाज़ार तक पहुंचा दो. यहां क्यों रुक रहे हो ?"

उसने कहा, "सर, थोड़ी ही दूर तो है, चले जाइए न यहां से, वहां सामने दूकानवाले से मैंने कुछ पैसे उधार लिये हैं." मैंने हंसते हुए सीख देने के लहज़े में कहा, "उधार लेकर भागते हो, यह अच्छी बात नहीं है."

"भागता नहीं हूं सर ! अभी मेरे पास पूरा पैसा जुटा नहीं है. वह देखेगा तो टोकेगा ज़रूर. उसकी आदत मैं जानता हूं. बहुत ख़राब लगता है उसके टोकने पर. कल-परसों तक पैसे जुट जायेंगे तभी उधर जाऊंगा."

उस दुकानवाले के सामने से मैं गुज़रने लगा तो उसने मुझे फिर टोंक दिया, "कब तक पेमेंट होगा सर ?"

चंदा

मैं एक साहित्यिक पत्रिका का संपादन कर रहा था. पत्रिका परिवार के सभी लोग सदस्यों की संख्या बढ़ाने के लिए बढ़-चढ़कर काम कर रहे थे. एक मैं ही था कि सदस्य नहीं बना पा रहा था. मेरी समस्या एवं चिंता देख मेरी पत्नी ने एक पूंजीपति रिश्तेदार की चर्चा की और कहा, "चलिए एक सदस्य आपकी ओर से मैं अवश्य बना दूंगी."

उनके घर घंटों बैठने के बाद किसी तरह पत्रिका की बात मैंने उठाई तो मेरी पत्नी ने मौका देखकर बहुत ही अदब से कहा, "एक वर्ष का शुल्क मात्र पचहत्तर रुपये है, आप भी सदस्य बन जायें ?" यह सुनते ही उन्होंने मेरी ओर मुख़ातिब हो तुरंत कहा, 'नेताओं की तरह आप लोग भी चंदा इकट्ठा करने लगे क्या ?'

द्वारा - तीर्थ सदन, लेखराज पथ,
मोराबादी, रांची ८३४ ००८ (झारखंड)

● **अर्थात हमारे लेखक जो कुछ करते रहे वह उनका मौलिक नहीं था...उधार का था ?**

उधार का ही था. लिखा तो उन्होंने ही है, लेकिन वह उनके अंतर्मानस की उपज नहीं है. साहित्य में आंदोलनों का कोई स्थान नहीं होता.

● **कैसा साहित्य स्थायी महत्व प्राप्त करता है ?**

वही साहित्य या कृति, जो कृतिकार की निजी, गहन, निरपेक्ष और स्वतंत्र अनुभूति की देन हो.

● **१९५० के बाद की कुछ ऐसी कृतियों के नाम बतायेंगे जो आंदोलनों से अलग रहकर लिखी गयी हों और स्थायी महत्व के योग्य हों ?**

इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता.

● **अन्य भारतीय भाषाओं में आपने किन-किन लेखकों को पढ़ा और किसने अधिक प्रभावित किया है ?**

शरत ने. शरत की सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके महिला पात्र हों या पुरुष... वे मानव के रूप में लेकर और उसके अंतर्मानस में प्रदेश करके उनको निरपेक्ष-निर्द्वंद्व और ऑब्जेक्टिव रखने में उनकी कोई बराबरी नहीं है. वह क्षमता रवींद्रनाथ ठाकुर में है.

● **इनके अतिरिक्त...**

दोस्तोवस्की ने भी किया.

● **मैक्सिम गोर्की, तालस्तॉय, काफ़्का, बाल्ज़ाक...**

बाल्ज़ाक, दोस्तोवस्की, हार्डी, डिकेन्स, सामरसेट मॉम, कई अन्य फ्रांसीसी लेखकों को मैंने खूब पढ़ा है.

● **तालस्तॉय का 'युद्ध और शांति', 'अन्ना कारनिना' और दोस्तोवस्की के उपन्यासों में आपको अंतर नज़र आता है या...**

दोनों का अपना क्षेत्र है. तालस्तॉय का क्षेत्र व्यापक है. दोस्तोवस्की जैसा अंतर्मानस का श्रेष्ठ चित्रकार दुनिया में दूसरा नहीं हुआ.

● **मैक्सिम गोर्की ?**

मुझे पसंद नहीं आये. कारण सीधा है. किसी सिद्धांत को चाहे वह आध्यात्मिक हो, राजनैतिक या सामाजिक...उसको लक्ष्य बना करके उसके प्रतिपादन के लिए जब आप लिख रहे हैं तो वह कृति श्रेष्ठ नहीं हो सकती.

● **हिंदी में किन साहित्यकारों ने ऐसा किया है ?**

यशपाल... जैनेंद्र ने लिखा है.

● **यशपाल के 'झूठा-सच' के विषय में आपका क्या विचार है ?**

अच्छा उपन्यास है, लेकिन उसमें भी वही कमी है. उसमें भी पात्रों को सिद्धांत में बांध कर चित्रित किया गया है. शरत ने ऐसा नहीं किया.

● **हिंदी कवियों के विषय में आपके विचार ?**

जयशंकर प्रसाद और निराला ने प्रभावित किया.

● **'विष्णु गुप्त चाणक्य' में आपने चाणक्य को तक्षशिला निवासी बताया है. भूमिका में इस तर्क के पक्ष में प्रमाण भी दिये हैं. चाणक्य जिस महा-उद्देश्य के लिए जी रहा था, उस स्थिति में किसी व्यक्ति के जीवन में प्रेम जैसी बात की कल्पना हो सकती है ?**

क्यों नहीं हो सकती !

● **क्या व्यक्ति इससे कमजोर नहीं होता ?**

नहीं होता. उससे उसके उद्देश्य को बल मिलता है.

● **चाणक्य ने जिस काम का संकल्प किया था वह आसान नहीं था. बहुत कठिन था. वह केवल संयोजक ही नहीं था संचालक भी था. उपन्यास में जिस प्रकार हेमा का पदार्पण होता है उसमें यदि बात चाणक्य के साथ हेमा के संपर्क तक सीमित रहती तब तक ठीक था. क्योंकि आज तक हिंदी पाठक को चाणक्य के किसी प्रणय संबंध की जानकारी नहीं है. वह एक ऐसे व्यक्ति के रूप में ही सदैव प्रस्तुत किया गया है जो कूटनीतिक विद्वान और दुर्धर्ष है. हेमा का उसके जीवन में आना और चाणक्य का उसके साथ शारीरिक संबंध स्थापित करना पाठक को अवश्य विचित्र लग सकता है ?**

वैदिक काल में ऐसा नहीं था.नैतिक तुष्टि या नैतिक शक्ति स्त्री से दूर रहकर ही हो सकती है यह मान्यताएं बाद में उपजीं. एक जैन ग्रंथ में मैंने पढ़ा था कि चाणक्य का एक पुत्र भी था.

● **मान लिया कि जैन ग्रंथ में यह बताया गया है कि राधागुप्त जो अशोक का महामंत्री था, चाणक्य का पुत्र था. इसमें शायद ही पाठकों को थोड़ी आपत्ति हो. लेकिन इस बात से अवश्य होगी कि हेमा पहले शशिगुप्त की अंकशायिनी रहती है, फिर उससे उपेक्षिता होने पर वह चाणक्य के संपर्क में आती है. चाणक्य पहले उसे गुप्तचर के रूप में प्रयुक्त करता है, बाद में उससे शारीरिक संबंध स्थापित कर लेता है. चाणक्य के लिए वह नगरवधू भी बनती है. अनेकों की अंकशायिनी बनने के बाद भी चाणक्य उसे प्रेमिका के रूप में स्वीकार करता है. इस स्थिति में हेमा को इतना पतित दिखाना क्या आवश्यक था ?**

अंकशायिनी होना या न होना क्या किसी के व्यक्तित्व के आधार हैं ? चाणक्य उससे प्यार करता है. वह प्रेम उसके अंदर इतना गहरा था कि वह उसे भुला नहीं पाया. जो गहरे कूटनीतिज्ञ होते हैं उनका शारीरिक आकर्षण इसी प्रकार की स्त्रियों के प्रति होता है.

❊ **वीरेंद्र कुमार गुप्त**
२२०/१, पॉकेट डी-६, सेक्टर-६, रोहिणी, दिल्ली - ११० ०८७

❊ **डॉ. रूपसिंह चंदेल**
१०-ए/२२, शक्तिनगर, दिल्ली - ११० ००७

पुस्तक समीक्षा

एक सार्थक औपन्यासिक उपक्रम : 'कुर्राटी'

✍ डॉ. भगीरथ बड़ोले

''कुर्राटी'' - (उपन्यास) : *डॉ. सतीश दुबे*

प्रकाशक - दिशा प्रकाशन, त्रिनगर, दिल्ली ११००३५

मूल्य : १०० रू.

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ. सतीश दुबे एक संघर्षजीवी सर्जक हैं. अद्यावधि उन्होंने अनेकानेक विधाओं में अपनी लेखनी को आजमाया है, किंतु लघुकथा एवं कहानी के क्षेत्र में उनकी सर्जक प्रतिभा अनगिनत उपलब्धियों से भरी-पूरी रही है. एक ईमानदार रचनाकार के रूप में अपने सर्जनात्मक दायित्त्व का हर पल अनुभव करने वाले डॉ. दुबे मूलतः आस्थावादी प्रगतिशील दृष्टि के प्रवक्ता रहे हैं. वे सदैव मानते हैं कि साहित्य के लिए सामाजिक जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज़ होना ज़रूरी है. अपनी तमाम रचनाओं में श्री दुबे ने इसी मान्यता को आकारित किया है. वस्तुतः श्री दुबे की इन सभी रचनाओं का मूल स्वर सामाजिक यथार्थ से संबद्ध है. इस क्रम में जहां उन्होंने समाज में स्वस्थ बदलाव लाने की आकांक्षा से युगीन विसंगत प्रवृत्तियों पर प्रहार किये हैं, वहीं तरह-तरह से अनेक संवेदनामय प्रसंगों को उभारकर मानवीय दर्द के परिप्रेक्ष्य में सहानुभूति के स्वरों को भी दमदार बनाया है.

लघुकथा, कहानी आदि विधाओं में अनेक कृतियों के प्रकाशन के उपरांत प्रस्तुत 'कुर्राटी' श्री सतीश दुबे की प्रथम औपन्यासिक कृति है. उपन्यास के फ्लैप तथा कृति में अंकित सम्मतियों को देखने पर ज्ञात होता है कि इस कृति के केंद्र में आदिवासियों के सामाजिक उत्थान-पतन तथा उनकी संस्कृति के अनेक सत्यों को ही उजागर किया गया है. किंतु सत्य तो यह है कि उपन्यास का अधिकांश आज की नौकरशाही तथा राजनीतिक हलकों के सत्य को भी उद्घाटित करता है. तात्पर्य यह कि लेखक ने इन दोनों दिशाओं की ओर गतिशील कथासूत्रों को अत्यंत सजगता तथा कुशलता से जोड़ने का प्रयास किया है. एक ओर आदिवासी एवं दलित वर्ग की बिगड़ी जीवनदशा, तो दूसरी ओर बिगड़े हुए ढर्रे पर चल रही देश की विसंगत प्रशासनिक प्रणाली - इन दोनों सिरों को जोड़कर जहां लेखक हर किसी के सोच को खलबलाता है, वहां समाज में ज़ारी भेद-भाव, अव्यवस्था तथा शोषण के विरुद्ध उठती आवाज़ को भी पुख़्ता सहारा देता है.

'कुर्राटी' की आधिकारिक कथा के अनुसार आदिवासियों के कल्याण के लिए बनाये गये विभाग में कथानायक नागराज शर्मा की नियुक्ति होती है. ऑफिस में पदस्थ होते ही वह जान जाता है कि यहां के लोग बेईमानी से आदिवासियों का हक हड़प रहे हैं. हर कहीं गड़बड़ ही गड़बड़ और भ्रष्टाचार का साम्राज्य है. इस क्रम में नागराज शर्मा को उस होस्टल का इंचार्ज बनाया जाता है, जहां अलग-अलग वर्ग के छात्र एक साथ रहते हैं. अपने अपनेपन, निस्वार्थ भावना, सहयोगी रुख़, समानता की दृष्टि तथा प्रभावी वक्तृत्त्व कला से वह आदिवासी वर्ग को उत्साहित करने एवं अन्य वर्ग के छात्रों से उन्हें सहजता पूर्वक जोड़ने के अनेक उपक्रम करता है. इस बीच प्रशासनिक पैंतरेबाजियों एवं जातिवाद तथा उच्चता बोध से ग्रस्त भ्रष्ट अहंवादियों से उसे बार-बार टकराना पड़ता है. फिर भी वह कभी युक्ति और कभी साहस के साथ तमाम समस्याओं के समाधान की दिशा में निरंतर अग्रसर रहता है. आदिवासियों में हीनता बोध की अवांछित मानसिकता को दूर कर उनमें आत्मविश्वास की ज्योति जगाने के लिए वह बौद्धिक मंच के आयोजन भी करता है. वैसे विभाग के भ्रष्ट अधिकारी-कर्मचारी कभी संकेतों द्वारा और कभी स्पष्टता से उसे अपना रास्ता बदलने की सलाह देते हैं, किंतु विभागीय घपलेबाजों के विरुद्ध वह साफ़-साफ़ कह देता है कि 'अब अफ़सरों' के चाबुक उठने का नहीं, चमड़ी बचाने का समय आ गया है. आदिवासियों को आत्मसम्मान से जीने की सीख देते हुए वह स्पष्ट बताता है कि शोषण के विरुद्ध मोर्चाबंदी बेहद ज़रूरी है, क्योंकि बेवज़ह अत्याचार सहने का ज़माना समाप्त हो गया है. नागराज की यह संघर्ष-यात्रा अपने चरम की ओर गतिशील होने ही वाली थी, तभी उसके स्थानांतरण आदेश आ जाते हैं. इस प्रकरण ने विसंगत युग की कड़वी सच्चाइयों को अवश्य ही सामने रखा, किंतु इस तथ्य को भी उजागर कर दिया कि अगर आदिवासी-दलित वर्ग को कहीं से थोड़ी-सी मदद मिल जाये, तो इस वर्ग के लोग प्रसन्नतापूर्वक हर विपरीत को चुनौती देने में सक्षम हैं.

लेखक ने इस मुख्य कथा के साथ अनेक प्रसंग संबद्ध किये हैं. उपन्यास के प्रारंभ में छपरासियों द्वारा एक भील को परेशान करना तथा बाद में एक विधायक की मदद से उसका पुलिस की नौकरी पा लेना, आदिवासी छात्रों की वृत्ति एवं हक हड़पने के विविधतापूर्ण प्रयास एवं बाद में इस व्यवस्था में बदलाव लाने की सार्थक कोशिशें, सरकारी कर्मचारियों की गुटबाजियां, नेताओं-पत्रकारों द्वारा चंदा वसूलने के नाज़ायज़ तौर-तरीके, अंधविश्वासों से ग्रस्त संपन्न वर्ग के लोगों की असलियत, शैक्षिक दौरे पर आये मंत्रियों के तफ़री मकसद, स्थानांतरण की तिलिस्मी हरकतें, छात्र संघ चुनाव के अवांछित उपक्रम आदि के साथ ही हीनता बोध से ग्रस्त छात्रों की अद्भुत प्रतिभा क्षमता का प्रदर्शन, विलासी वर्ग के विरुद्ध मैडम हिरवे तथा मंगली मामी की संघर्ष चेतना, आदिवासियों के उल्लासपर्वों यथा भगौरिया, गोलमघेड़ी की विस्तृत विवेचना, उषा मैडम और माथुर तथा चतुर्वेदी एवं

मनीषा के बीच पनपते प्रेम संबंधों आदि के वर्णनों ने कथा के प्रवाह का रोचकता से परिपूर्ण ही नहीं बनाये रखा, वरन् विविध चरित्रों को भी उनके यथार्थ परिवेश में प्रतिष्ठित किया है. वैसे इस कृति का मूल चरित्र नागराज शर्मा का ही है और सारी कथा इसी के इर्द-गिर्द गतिशील रहती है. मानवता के धरातल पर स्थित यह चरित्र आद्यंत आदर्शवादी है, जिसने एक ओर आदिवासी-दलित वर्ग के दर्द को जाना है, दूसरी ओर उनके हित के लिए राजनीतिक-प्रशासनिक ठेकेदारों से जमकर संघर्ष किया है. यद्यपि अंत में वह अपने प्रयत्नों को संपूर्णता तक नहीं पहुंचा पाता, तथापि हीनताग्रस्त वर्ग में प्रभावी संघर्ष चेतना भरने में सफल हो जाता है. यहां उसकी हार भी विजय का सूचक सिद्ध होती है.

वैसे कहीं-कहीं यह भी अनुभव होता है कि बिखरे हुए अलग-अलग प्रसंगों को समेटने के क्रम में लेखक उपन्यास विधा के विराट फ़लक को संभाल नहीं पाया. इसीलिए सहज रूप से प्रवाहित प्रसंगों के बीच कभी लंबे चौड़े वक्तव्य, तो कभी पूर्व दीप्ति शैली के संदर्भ, कथा प्रवाह को कहीं से कहीं पहुंचा देते हैं. पात्र भी इतने अधिक हैं कि नागराज के अतिरिक्त अन्य किसी चरित्र की स्वतंत्र स्थिति याद रखने काबिल नहीं हो पाती. अनेक बार अचानक नये पात्र प्रकट हो जाते हैं. लगता है कि लेखक को जहां भी कथा को जैसा घुमाना है, उस ज़रूरत के मुताबिक पात्र हाज़िर हो जाते हैं. और फिर कहीं भाषणबाजी या संदर्भों के लंबे विवेचना प्रसंगों ने भी कुछ बाधाएं प्रस्तुत की हैं. बावजूद इसके बीच-बीच में भीली लोक गीतों के टुकड़ों का संयोजन, संबंधित भाषा शब्दों तथा कहावत-मुहावरों का समन्वय, दुरावस्था दिखाते हुए व्यंग्य के तेवरों का प्रकटीकरण, आवश्यकतानुसार हंसी मज़ाक के शालीन प्रसंग आदि ने उपन्यास को उबाऊ नहीं बनने दिया. वस्तुतः संपूर्ण उपन्यास पढ़ने पर यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि इस विपन्न वर्ग की दशा कितनी दारुण है और तथाकथित सभ्य लोगों से निरंतर शोषित होकर ही यह वर्ग प्रतिक्रिया स्वरूप अलग रास्तों पर चलने के लिए विवश है. पूरे उपन्यास की कथा-धारा को इसी दिशा में मोड़ने की कोशिश करते हुए अंततः कथानायक यह बता देता है कि यदि असभ्य कहलाने वाले इस दलित वर्ग को थोड़ा-सा सहारा मिल जाये तो उनके जीवनक्रम में एक सुखद बदलाव आ सकता है. चूंकि लेखक का शिक्षकीय जीवन इन्हीं लोगों के बीच बीता है, अतः इस जीवन को निकटता से देखने के कारण ही डॉ. दुबे ने इस सामाजिक सत्य की यथार्थपरक मीमांसा प्रस्तुत करने में सफलता पायी है. अतः भीली जनजीवन के किसी अंश को उकेरती ऐसी यथार्थपरक कृति 'कुर्राटी' के प्रकाशन पर डॉ. सतीश दुबे बधाई के पात्र हैं. युगीन विसंगत संदर्भों के विरुद्ध लेखक की कुर्राटी निःसंदेह ज़ायज है, संगत है तथा प्रभावशाली है.

२८६, विवेकानंद कॉलोनी, फ्रीगंज,
उज्जैन ४५६ ०१०.

कथा लेखन को समाज से जोड़ने की कोशिश

✍ कृष्ण कुमार

'चल खुसरो घर आपने' - (कहानी-संग्रह) : *मिथिलेश्वर*
प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली ११०००३ **मूल्य** : १०० रू.

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'चल खुसरो घर आपने' कथाकार मिथिलेश्वर का दसवां कहानी-संग्रह है. 'नयी कहानी' आंदोलन के बाद जो स्थिति पैदा हुई थी, उससे विकट स्थिति वैश्वीकरण और संचार-क्रांति के इस साइबर युग ने पैदा कर दी है. साहित्य की पाठकीयता कम होते-होते सिर्फ़ साहित्यिकों के बीच सिमटती जा रही है. आज के इस साहित्यिक संकट को प्रायः सभी रचनाकार महसूस कर रहे हैं.

यह सुखद तथ्य है कि मिथिलेश्वर जैसे रचनाकार साइबर क्रांति के इस युग में भी अपने को पढ़वा लेने का आकर्षण प्रस्तुत करते हैं. उदाहरण स्वरूप उनका यह नया कहानी-संग्रह 'चल खुसरो घर आपने' है, जिसका प्रथम संस्करण २००० में प्रकाशित हुआ और एक वर्ष के अंदर ही (२००१ में) उसका दूसरा संस्करण और पेपरबैक संस्करण भी आ गया. पाठकीयता की यह वापसी साइबर युग से ऊबते और खीझते लोगों के पुनःसाहित्य की ओर आकृष्ट होने से ही कायम हो रही हो. लेकिन इस संबंध में मिथिलेश्वर की लोकप्रियता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है.

'चल खुसरो घर आपने' इस संकलन की पहली और सबसे लंबी कहानी है. एक वृद्ध विधवा मां को उसके दोनों बेटे रविरंजन और श्यामरंजन शहर की अपनी नौकरियों पर सहजता से नहीं रख पाते. मां की उपस्थिति उन्हें नये कपड़े में पेबंद की तरह लगती है. उनकी उपेक्षाओं से तंग आकर मां अपने गांव लौट जाती है और गांव की दाई मुनरी के सहारे गांव में ही रहने का निर्णय करती है. ऊपर से देखने पर परिवार में वृद्धजनों की निरंतर कष्टप्रद होती स्थिति को कहानी का विषय बनाया गया है. यह समस्या औद्योगीकरण और वैश्वीकरण की उपज है. भौतिकता की सिद्धि और आत्मकेंद्रित जीवन दृष्टि ने इसका परिचालन किया है. इस विषय पर दर्जनों कहानियां लिखी गयी हैं और ख़ूब लिखी जा रही हैं. लेकिन मिथिलेश्वर की यह कहानी अतीत के दबाव और वर्तमान की उपेक्षा को जिस नये कोण से प्रस्तुत करती है - वह इसे ख़ास बनाती है. मां की पीड़ा अतीत की यादों में ही घनीभूत होती है, वर्तमान की उपेक्षा में नहीं. "अचानक मां को लगा कि उनके पलंग के समीप कोई खड़ा है.

उन्होंने मुड़कर देखा, सफ़ेद धोती-कुर्ता पहने उनके पति पास ही खड़े मुस्करा रहे थे. अक्सर उन्हें पलंग पर सोते देख बिना जगाये वे चुपचाप उनके पास खड़े हो जाते थे. कहते थे- "सोते हुए तुम्हें देखना बहुत अच्छा लगता है...!"

वे हड़बड़ाकर उठ बैठीं- "कब आये आप...?"

पर कोई ज़वाब नहीं...पति तो दीवार पर टंगी तस्वीर से पूर्ववत झांक रहे थे. उनके रोंगटे खड़े हो गये और वे रोमांचित हो उठीं." (पृष्ठ २५)

शहर से गांव लौटी मां की स्मृतियां सारी रात उन्हें जागते और सोते रहने के बीच जो मार्मिक संसार रचती हैं, उसने इस कहानी को मिथिलेश्वर की एक उल्लेखनीय कहानी बना दिया है.

निर्मल वर्मा के कुछ पात्र अतीत की स्मृतियों में जीते हैं. वे उनकी स्मृतियों का एक अलग संसार रचते हैं. 'चल खुसरो घर आपने' की मां की स्मृतियां संवेदना के धरातल पर पाठकों को आर्द्र कर देती हैं. वे प्रबल स्मृतियां वर्तमान की उपेक्षा पर इतनी भारी पड़ती हैं कि मां की जान ले लेती हैं. पाठकों के मन पर यह कहानी एक टीस, एक कसक छोड़ जाती है तथा बढ़ती भौतिकता के ख़िलाफ़ मानवीय अस्मिता के प्रश्न खड़े करती है.

गांवों के अराजक होते माहौल में अपराधियों की निरंतर बढ़ती संख्या से 'अंतहीन' कहानी हमारा साक्षात्कार कराती है. मानदेव और परशुराम के परिवारजनों ने दंड देने के लिए जिस घोषित अपराधी शुकर को पकड़ा था, उसने सायनाइड कैप्सूल खाकर आत्महत्या कर ली और एक पत्र लिख कर यह सूचित कर दिया कि वास्तविक अपराधी वह नहीं, जावरमल है, जिसने परशुराम के रुपये हड़पे और मानदेव के बेटे की हत्या की. शुकर से जावरमल की यह उगती हुई फसल ने आज के गांवों को भयावह बना दिया है.

'प्रेत की जट' लोक-कथा के शिल्प में एक गठी हुई कहानी है. अपनी जट के खो जाने से ही प्रेत आदमी बना था. जट पाते ही फिर प्रेत हो गया. बेरोज़गारी की समस्या की यह कहानी प्रेत की जट के प्रतीकों में बुनी गयी है. कहानी के अंत में प्रेत का यह हर्षोल्लास 'जट मिल गयी, कट ले लो' कथानायक अनिमेष का हर्षोल्लास जान पड़ता है जब प्रफुल्ल राय की ठिगनी, कूबड़ी और कलूटी लड़की से शादी के प्रलोभन में नौकरी तो पा जाता है, लेकिन नौकरी पाते ही प्रेत की तरह वह अपनी जट पा लेता है. प्रफुल्ल राय जैसे घृणित, सौदेबाज और प्रलोभनकर्ता को यह कहानी बेनक़ाब करती है.

'सायास' दोहरे कथानक की एक सशक्त कहानी है. गोद लेने के नाम पर नौकर की समस्या का समाधान तथा ग्रामीण समाज की टीका-टिप्पणियों की सामूहिक भूमिका का असर इस कहानी में हम पाते हैं. इंस्पेक्टर लोहित सिंह ने पीयूष को गोद लेकर स्थायी चाकर की व्यवस्था कर ली थी. लेकिन गांव की टीका-टिप्पणियों ने किशोर पीयूष को अल्पावधि में ही वयस्क समझ से संपन्न बना दिया. अब लोहित सिंह की मृत्यु का कारण पीयूष है या कोई अन्य यह कहानी में स्पष्ट नहीं है. पर यहां पहुंचने के क्रम में कहानी ने अपना अभिप्राय व्यक्त कर दिया है...

भयावह होते गांव से 'गांव का घर' कहानी साक्षात्कार कराती है. आज के गांव के विद्रूप सच को यह कहानी शिद्दत से रेखांकित करती है. सचन लाल महानगरों के आतंक और असुरक्षा से पनाह पाने के लिए अपने गांव लौटता है, लेकिन पाता है कि इस बीच शहर से अधिक आतंक और असुरक्षा उसके गांव में व्याप्त हो गयी है. गांवों की बर्बादी के पीछे आडंबरों, रूढ़ियों एवं मनौतियों की दकियानूस परंपरा का भी कम हाथ नहीं है.

'अजगर करै न चाकरी' कहानी ऐसे ही एक देवधाम के माध्यम से यौनाचार के कुत्सित पक्ष की ओर हमारा ध्यान ले जाती है. इससे पहले भी मिथिलेश्वर ने 'युद्धस्थल' नामक अपने उपन्यास के द्वारा डायन की मिथ्या धारणा पर प्रहार किया था. ग्रामीण समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का विरोध मिथिलेश्वर का अभीष्ट रहा है, इसीलिए तिवारीडीह के देवधाम में बटुकनाथ (अजगर करै न चाकरी) के छद्म को उस गांव की ही गजेंद्र बहू के द्वारा बेपर्द किया.

'शायद हां, शायद नहीं,' और 'मनबोध मउआर' इस संकलन की लंबी कहानियां हैं. 'चल खुसरो घर आपने' के बाद मे दोनों लंबी कहानियां पाठकीय संवेदना को उद्वेलित करती हैं. हृदय-परिवर्तन आज के युग में संभव नहीं, यह पूर्ण सत्य नहीं है. पर इस सनातन मानवीय भाव का प्रभाव दुर्दांत और हिंस्र व्यक्तियों में हम आज भी पाते हैं, इसीलिए 'शायद हां, शायद नहीं,' कहानी का सच किसी काल की सीमा में आबद्ध सच नहीं, सार्वभौम सच है. मेघबरन अपने भाई के हत्यारे को मारने पहुंचा है. लेकिन उसके पहुंचने से पहले ही किसी और के हाथों वह मारा जा चुका है. अब मेघबरन का सामना उसकी बीमार मां और युवा बहन रुनकी से होता है. उस घर की विपन्न स्थिति पर न चाहते हुए भी वह तरस खाता है. कुछ लोग युवा रुनकी के प्रति उसके आकर्षण को देखते हुए इसे प्रेम कहानी भी कह सकते हैं. पर प्रेम के झोंक में सनी यह हृदय परिवर्तन की एक मर्मस्पर्शी कहानी है. 'मनबोध मउआर' कहानी सामाजिक जीवन में सार्थक हस्तक्षेप की याद ताज़ा करती है. गांव से शहर तक हमारे समाज में किसी के भी साथ सरेआम कोई ज़्यादती नहीं कर पाता था. न्याय के पक्ष में बिना बुलाये लोग कूद पड़ते थे. किसी कमजोर को सताने वाले से उलझने वाले अपने नफ़ा-नुकसान की परवाह नहीं करते थे. इस सामाजिक हस्तक्षेप से ही सामाजिक शांति और समरसता बनी हुई थी. कहीं भी जोर जबरदस्ती और ज़्यादती पर किसी की चिल्लाहट सुन लोग टूट पड़ते और भिड़ जाते. लेकिन आज यह मज़बूत भारतीय यथार्थ पूरी तरह बदल गया है. अब लोग सिर्फ़ तमाशबीन होकर रह जाते हैं. अपनी आंखों के समक्ष सब कुछ देखने को विवश हैं. ऐसे समय में किसी

मनबोध मउआर की उपस्थिति, जो अपने टोले-मुहल्ले के अनाचारों और अत्याचारों के खिलाफ हस्तक्षेप बन कर परेशानी मोल लेता है, एक बेहतर परंपरा से हमारा साक्षात्कार करती है. 'मनबोध मउआर' किसी लुप्त प्रजाति की नस्ल जान पड़ते हैं.

'नदी किनारे,' 'बारिश की रात' और 'कन्या योग्य वर' इस संग्रह की अपेक्षाकृत कमजोर कहानियां हैं. इन कहानियों में कथाकार की पकड़ ढीली और प्रस्तुति सामान्य लगती है.

इस संग्रह की एक विलक्षणता इसके समर्पण की पंक्तियों में निहित जान पड़ती है. 'हंस' के संपादन के बाद से ही राजेंद्र यादव पर खूब टीका-टिप्पणियां होती रही हैं. इस दौरान राजेंद्र यादव के मूल्यांकन की पूरजोर कोशिश की गयी है. लेकिन मिथिलेश्वर ने इस संग्रह के समर्पण के नाम पर राजेंद्र यादव का अब तक का सर्वाधिक बेबाक, वस्तुपरक और सटीक मूल्यांकन किया है. उनके शब्द हैं- 'स्वीकार एवं अस्वीकार के प्रखर व्याख्याकार श्री राजेंद्र यादव को'. वाकई राजेंद्र यादव स्वीकार एवं अस्वीकार के प्रखर व्याख्याकार ही हैं, और कुछ नहीं...

कुल मिलाकर मिथिलेश्वर का यह कहानी-संग्रह उनकी विकास-यात्रा का द्योतक है. डॉ. नागेश्वर लाल के शब्दों में कहा जाय तो कथा-लेखन को समाज के साथ जोड़ने में जो सार्थक शुरुआत मिथिलेश्वर ने की थी, अपनी उस भूमिका में वे आज भी सफल दिखते हैं. भारतीय ज्ञानपीठ के उत्कृष्ट और कलात्मक प्रकाशन ने इस संग्रह को और महत्वपूर्ण बना दिया है.

महावीर स्थान के निकट, करमन टोला,
आरा - ८०२ ३०१ (बिहार)

एक अस्तित्ववादी उपन्यास : 'चेहरा और परछाई'

✍ डॉ. (श्रीमती) नीलम सेठी

'चेहरा और परछाई' - (उपन्यास) : *डॉ. अजय शर्मा*
प्रकाशक - मनमीत प्रकाशन, दिल्ली/जालंधर
मूल्य : १०० रू.

चेहरा और परछाई डॉ. अजय शर्मा का सद्य प्रकाशित उपन्यास है. विवेक नाम के अत्यंत महत्वाकांक्षी युवक को केंद्र में रख कर यह उपन्यास लिखा गया है. मुंशी प्रेमचंद के अनुसार उपन्यास मानव चरित्र का चित्र मात्र होता है. इसमें संदेह नहीं है कि मानव चरित्र का अत्यंत वैविध्यपूर्ण और सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है. यहां भौतिक सफलताओं के जुनून में तेज रफ़्तार से भाग रहे व्यक्ति की भीतरी छटपटाहट को अंततः चरम विस्फोटक रूप दिया गया है. जहां उद्दाम मानवीय भावनाओं, सपनीली इच्छाओं और पथरीली वास्तविकताओं में प्रबल संघर्ष है. उपन्यास में कथानायक 'मैं' शैली का प्रयोग करता है. उसका नाम विवेक है, उसमें नवयुग का नया विवेक है, जो उसकी महत्त्वाकांक्षा को सर्वोपरि रखता है. वह रूपवान है, उसे अपने सुंदर चेहरे पर गुमान भी है, वह हर वक़्त उस चेहरे की देखभाल के लिए सतर्क रहता है.

नायक रंगमंच की दुनिया में अच्छा है, पुरस्कृत भी होता है, पढ़ाई में होशियार है पर फिल्मी दुनिया में जाने का उसे जुनून है. इसके लिए घर बाहर के सारे विरोध झेल लेता है. वह व्यक्ति स्वातंत्र्य का पक्षपाती है. घर वाले, विशेषकर पिता जी उसे इंजीनियर देखना चाहते हैं. अंततः जीत उसी की होती है. बात-बात पर अपने विचार और अपनी जीवन शैली उस पर लादने वाला पिता हारता है और कथानायक एक दिन रात के अंधेरे में साधनों की पवित्रता न देखता हुआ पिता की जेब से आठ हज़ार रुपये चुरा कर माया नगरी मुंबई के लिए भाग निकलता है. वहां भी उसे संघर्ष से विराम नहीं. वहां पुलिस द्वारा दुत्कारा जाता है, पेइंग गेस्ट बन कर सूखी रोटियां तोड़ता है. प्रोड्यूसर, डायरेक्टरों के चक्कर काटता है. इतना श्रम करके भी उसे 'एक्सट्रा' लिया जाता है और उसका मोहभंग तब होता है जब हीरो के साथ अच्छा सीन फिल्माने पर भी वह सीन फिल्म से निकाल दिया जाता है. चरम निराशा के क्षणों में तेज़ाब से अपना चेहरा जला लेता है. पर विधि की विडंबना ! सुंदर चेहरे का मोल नहीं पड़ा. तेज़ाब जले चेहरे का मोल पड़ गया, 'हॉरर मूवी' के लिए. यह तो माया नगरी है. यहां आम से कुछ हट कर चाहिए. पहली बार कथानायक ने बंबई में इकट्ठे दस हज़ार रुपये के दर्शन किये. उस दिन उसे लगा, वह खूब नाचे, गाये. पर जीवन तो निराशा में से आशा और आशा में से निराशा का ही नाम है. अभी पालकीवाला की एसाइनमेंट निभानी थी कि पता चला कि मां जालंधर में सख़्त बीमार है और सिर्फ़ उसकी राह देख रही है. महत्त्वाकांक्षा का मोती कठोरता की सीपी में पलता है. द्वंद्व में फंस जाता है नायक. जालंधर जाये या न जाये... संस्कारबद्ध निर्देशक व उसके मित्र ज़बरन उसे भेजते हैं. मां उसे पाकर मृत्यु की गोद में विश्राम पाती है. मुंबई प्रवास के पांच सालों में बेटे को खोकर बापू भी हार वाली तस्वीर में बदल जाते हैं. वह अनमने मां का संस्कार करता है. चौथे और क्रिया के बिना ही पुनः अपनी महत्त्वाकांक्षा की नगरी में लौट जाता है.

विवेक की कथा कीर्क गार्द व नीत्शे के अस्तित्ववादी चिंतन की ओर ध्यान आकृष्ट करती है, जहां प्रश्न जीवन की विविध दिशाओं में से सवाल एक दिशा में चलन का है. 'साहित्य की परती परिकथा' में निर्मल वर्मा लिखते हैं, 'चौराहे की विशेषता यह है कि वहां से अनेक रास्ते अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं. हर दिशा का अपना सत्य है...हमारे जीवन की दुःखद बाध्यता यह है कि अपने जीवन काल में एक दिशा चुननी पड़ती है...बाकी रास्ते छोड़ देने पड़ते हैं... जीवन में हम एक राह चुन

कर बाकी विकल्पों से मुंह मोड़ लेते हैं. किंतु वे वहां हैं, हमारे जीवन के अंडर ग्राउंड अंधेरे में उनकी प्रेत छायाएं उतनी ही जीवित हैं, जितनी दिन की रोशनी में चमकते वे स्टेशन, जो हमारी राह में आते हैं. उपन्यास के यथार्थ और जीवन के यथार्थ के बीच यही एक भारी अंतर है...उसमें छूटे हुए रास्तों की विरह वेदना उतनी ही तीव्र होती है, जितनी जिये हुए अनुभवों की सघन सांद्रता. समीक्ष्य उपन्यास का कथानायक भी इसी वर्तमान और अतीत के बीहड़ में उलझा रहता है. जीवन को अर्थ देना उसके लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है. उस अर्थ देने में मां-बाप कहीं नहीं आते. इसलिए मां के चौथे और क्रियाक्रम को यह कह कर 'रीतिरिवाजों में मेरा विश्वास नहीं.' 'जब चेतना नहीं रही तो पंचभूतों से बनी देह का क्या ?' सदियों से चले आ रहे संस्कारों पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है. यहां भी उसकी महत्त्वाकांक्षा ही विजयिनी होती है. मृत मां की रस्में पूरी किये बिना माया नगरी की गाड़ी पकड़ लेता है. पकड़ता गाड़ी है, कल्पना करता है कि वह हवाई जहाज में है या घोड़े पर सवार है.'

किसी उत्कृष्ट कृति से हमें एक जीवन ऊर्जा या आंतरिक आस्था की अपेक्षा होती है, जिसके अभाव में आज हमारा भौतिकवादी वैश्विक समाज स्वयं को निपट वैचारिकता और वायदों के ऐसे जंगल में भटकता, बढ़ता, ठिठकता और लौटता पाता है, जहां आगे बढ़ने के लिए आवश्यक जीवन ऊर्जा का क्षरण हो चुका है.

समीक्ष्य कृति भी इस आंतरिक ऊर्जा से रहित नहीं. कुछ ऐसा तो नायक के अंदर ही है, जो उसे आगे बढ़ने के लिए तड़पाता है, जीवन संघर्ष में स्वयं को होम करने को बाध्य करता है, जीवन के नये अर्थ तलाशने की ओर लगाता है.

पालकीवाला जब कहता है, 'मां-बाप से बढ़ कर दुनिया में कुछ नहीं है. मां-बाप का कर्जा इंसान सारी उम्र नहीं चुका सकता या फिर जलजिंदर जो आई. ए. एस. है, स्वयं को विवेक की मां की सेवा में अर्पित कर देता है. उसकी मां की परिचारिका कहती है, 'अस्पताल का ख़र्चा दवाइयों के बिल के अलावा सेवा में भी मां जी के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी.' इस प्रकार उच्च जीवन मूल्य भी इस कृति में बिखरे पड़े हैं.

इस कृति में लेखक ने माया नगरी मुंबई का जीवन बख़ूबी उभारा है. जहां शोर-शराबा है, भीड़भाड़ है, हर वक़्त आदमी पर आदमी चढ़ा रहता है, जिंदगी घड़ी की सूइयों पर टिकती है, रात बारह बजे के बाद दिन चढ़ता है. ऐसा शहर जहां हर आदमी फिट हो जाता है, अगर वह आम आदमी से जरा-सा भिन्न हुआ, फिर तो उसके कहने ही क्या ? इस माया नगरी में फिल्मी जीवन पर भी लेखक ने कटाक्ष किया है, जिसमें अब करोड़ों रुपये खर्च कर बनने वाली फिल्में हीरो हीरोइनों की बपौती या दौदौती ही बन कर रह गयी हैं. उनमें आम आदमी को ज़गह नहीं. आम आदमी मायाजाल या मृगतृष्णा में चेहरा लेकर आता है, परछाई बन कर रह जाता है, फिर भी इस मृगतृष्णा का मोह संवरण नहीं कर पाता. कथानायक स्वयं कहता है, 'उस दिन मैंने अपना चेहरा दर्पण में देखा तो मुझे लगा कि जो चेहरा मैं कुछ वर्ष पहले यहां लेकर आया था, उससे तो यह बिल्कुल नहीं मिलता. ऐसा लगता है चेहरा गुम है और केवल परछाई मात्र रह गयी है. क्या यह हादसा सिर्फ़ मेरे साथ ही हुआ है ? शायद नहीं... मुझे लगता है कि यहां जो भी व्यक्ति, जिस भी हालत में इस माया नगरी में प्रवेश करता है, बहुत उत्साहित होता है लेकिन कुछ समय बाद केवल परछाई ही रह जाती है... लाखों की संख्या में परछाइयां इस माया नगरी में घूम रही हैं.'

समीक्ष्य उपन्यास की भाषा सहज, प्रभावी और प्रायः पात्र और परिवेश के अनुकूल है. मुंबई का वातावरण बांधने के लिए मुंबइया भाषा के शब्द आये हैं, जो वातावरण को स्वाभाविक बनाते हैं जैसे, 'ऐसी सब्ज़ी अपुन अक़्ख़ा ज़िंदगी में नहीं खाया...' माया नगरी का एक सिपाही कथानायक को धमकाता हुआ कहता है, 'देखो, खाली-पाली भंकस करने का नहीं. हम अभी ड्यूटी पर आया है. हमारा भेजा ठीक रखने का है...चल माल निकाल...'

उपन्यास का शिल्प चरित्र या संवेदन के साथ शब्द और भाषा वस्तु का शिल्प भी होता है. प्रस्तुत उपन्यास विवेक जैसे चरित्र द्वारा अंदर से हिला देता है, हलचल पैदा कर देता है. उसकी आंतरिक दुनिया को सही-सही समझने में उपन्यास सहायक सिद्ध होता है. निर्मल वर्मा लिखते हैं, 'असली जीवन में हमारे भीतर के अनेक कपाट बंद पड़े रहते हैं, जिन्हें हम खोलने का साहस नहीं कर पाते. आइस वर्ग की तरह मनुष्य का एक छोटा अंश ही हमें पानी के ऊपर उजाले में दिखाई देता है, बाकी हिस्से चूंकि सतह के नीचे डूबे रहते हैं, उससे उनका अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता. डॉ. अजय शर्मा ने समीक्ष्य उपन्यास में विवेक के व्यक्तित्व के बाहर के आठवें हिस्से के साथ-साथ सतह के भीतर के अधिकांश अदृश्य हिस्सों के अदम्य व्यक्तित्व का अहसास बड़ा सावधानीपूर्वक करवाया है. क्या अपने अहम् या समाज के दबाव में आकर मां-बाप को बच्चों की इच्छाओं को कुचलना चाहिए ? क्या व्यक्ति को चयन की स्वतंत्रता के नाम पर मां-बाप को एकदम कोने में धकेलना चाहिए ? क्या महत्त्वाकांक्षा के नाम पर खून सफ़ेद होना चाहिए ? आदि अहम् सवालों से पाठक के तंत्रिका तंत्र को झंझोड़ता उपन्यास समाप्त होता है. संवेदना की प्रखरता और शिल्प में कसाव होने के कारण समीक्ष्य उपन्यास छोटे आकार का होने पर भी अपने प्रतिपाद्य को प्रभावी ढंग से विवेकी और सहृदय पाठक तक संप्रेषित करने में सफल हुआ है. एक अच्छी औपन्यासिक रचना देने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं. भविष्य में वे में और ऐसी कथाकृतियां देंगे, ऐसा हमें विश्वास है.

अध्यक्षा : स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
कमला नेहरू कॉलेज फॉर विमन, फगवाड़ा

बहुआयामी ग़ज़लों की उच्छलित लहरों का समंदर : 'साप में समंदर'

✍ डॉ. अनिल गहलौत

'सीप में समंदर'- (ग़ज़ल-संग्रह) : *डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर'*,
प्रकाशक - कलरव प्रकाशन, दिल्ली **मूल्य** : १०० रू.

डॉ. रामसनेही लाल शर्मा 'यायावर' की चौथी मौलिक काव्य कृति, सद्य प्रकाशित ग़ज़ल-संग्रह 'सीप में समंदर' वर्तमान हिंदी ग़ज़ल-संसार का एक प्रतिनिधि ग़ज़ल-संग्रह है. "आंसू पीड़ा कलम प्रतिष्ठ और ईमान दुकानों पर," "आदमी में मूर्त रावण वंश है," "जब भी गौरेया उठी पर तौलने, रक्त से हमको मिली है तर-बतर", "फसल कटी हर बार मगर, पहुंची शातिर गोदामों में," जैसे मिसरे शायर की कलम की ताकत को तथा इस संग्रह में उसके अंदाज़े-बयां को उजागर करने वाले मिसरे हैं. यह संग्रह वर्तमान हिंदी कविता की सभी प्रासंगिक शर्तों से जुड़कर चलता दिखाई देता है. शायर मानव-जीवन की सभी वर्तमान विसंगतियों को उजागर करता है तथा इतना ही नहीं आशा और ऊर्जा का उद्‌बोधन भी देता है-"उठिए कि मुश्किलों की उंगलियां मरोड़िए".

"सीप में समंदर" ग़ज़ल संग्रह वास्तव में कलेवर की दृष्टि से सीप सदृश है, किंतु इसकी ग़ज़लों का बहुआयामी विस्तार तथा संवेदन और कथ्य की तरलता तथा उच्छलित भाव-उर्मियों की दृष्टि से समंदर सदृश ही है. श्रृंगार की उभयपक्षी संवेदनाओं में सरोबोर ग़ज़लें भी पाठक के मन को तरंगायित करने में सक्षम हैं-

"भेजो कोई मधु संबोधन, कल्प-कल्प से हम उदास हैं।"
"कल सपने में मांगा तुमने, हम हृदय निकाले बैठे हैं ।।"

कवि यायावर की दृष्टि श्रृंगार पर अधिक नहीं टिकी है. युग की विसंगतियों से आहत कवि का मन व्यक्ति (जन) की पीड़ा से लेकर वर्तमान में साहित्य, संस्कृति, समाज, परिवार तथा देश की धार्मिक, राजनीतिक विकृतियों की पीड़ा को सशक्त अभिव्यक्ति देता है.

दर्शन और नीति भी इस संग्रह की ग़ज़लों की विषयवस्तु बने हैं. सांप्रदायिक विद्वेष और आतंकवाद की नृशंसता की ख़बरों से आहत कवि का मन कह उठता है- "ख़ून सना अख़बार मिला है सुबह-सुबह" तथा "शो-केसों में धरे-धरे क्यों तलवारों में बदल गये, आदिग्रंथ रामायण, गीता और कुरान दुकानों पर." कवि राजनेताओं के भ्रष्ट चरित्र की सजीव तस्वीर खींचने में अपनी सिद्धहस्तता का परिचय देता है- "पांच साल के बाद कुटी तक आ पहुंचे", "अहंकार जब यहां सारथी बन बैठा, कौन सूर्य के रथ को मोड़े क्या कहिए" तथा "राजधानी में आये हो क्या बात है, रंग गिरगिट के लाये हो क्या बात है." "फसल काट हो गया मंच तैयार" तथा "सत्ता की डायन" पदबंध राजनीतिक विसंगति का सजीव चित्र उभारते हैं."

व्यवस्था की विसंगति तथा आम आदमी की पीड़ा को कवि ने अपनी ग़ज़लों में अत्यंत सशक्त अभिव्यक्ति दी है-

"बैठ धुरी पर चुपके-चुपके, यहां प्रकाश निगलते सांप।"
"आंसू, भूख बेबसी, पीड़ा, दर्द, तनाव, उदासी है ।।
अपने हिस्से में तो यारो, इन सातों का राजमहल।"
"आदमी खींचता इंजन-सा, पूरी की पूरी रेल यहां ।।"
"धूप, चांदनी कैद करेंगे, अपनी-अपनी मुट्ठी में।
लेकर बैठे हैं कुछ पागल यह अभियान दुकानों पर ।।"

आज के शहरी जीवन की व्यस्तता को उकेरता यायावर का यह शेर अपने आप में वास्तव में "सीप में समंदर" की व्यंजना रखता है-

"पत्नी सुबह, पति शाम, बेटा दोपहर मिले।
लगता है अपना घर भी हुआ पारियों का घर ।।"

आज़ादी के पचास वर्ष बीतने पर भी हमारी दुर्दशा और बेबसी का चित्र एक ही शेर में कवि ने सशक्त रूप में खींच दिया है- "अर्द्धशती तो गुज़र गयी है, गढ़ते झूठे आश्वासन."

बंदूक की नोक पर बूथ-कैप्चरिंग और गुंडागर्दी की पीड़ा देखें- "बंदूक की हवा में जनतंत्र देखियेगा, पूरे अवाम को अब परतंत्र देखियेगा."

शिल्प की दृष्टि से कवि यायावर की ग़ज़लों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की संप्रेषणीयता. लोक के अत्यंत निकट की उनकी भाषा में जनमानस में रचे बसे लोक मुहावरे तथा लोकप्रचलित शब्द और वाक्यावली इस संप्रेषणीयता में और भी अभिवृद्धि कर देती है. काव्य की गहराई को ज्यों की त्यों पाठक के मानस पर उभारने में उनकी यह भाषा विशेष "रोल" अदा करती है. हिंदी के तत्सम शब्दों का प्रयोग तथा अभिव्यक्ति की शक्ति के लिए अंग्रेजी के भी रोज़मर्रा के प्रचलित शब्दों का प्रयोग कवि ने धड़ल्ले के साथ किया है - कैमरा, रील, शोकेस, फ्रिज, कार, एटम, फुटपाथ, प्लेटें, पतलून आदि. उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी कवि ने खूब किया है-गुलिस्तां, तूफां, तलातुम, नब्ज़, नाखुदा, सियासतदां, दफ़्तर आदि. कवि की प्रतीक योजना इस संग्रह की ग़ज़लों में विशेष महत्व रखती है. कवि ने आवश्यकतानुसार पौराणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक प्रतीकों के अतिरिक्त व्यक्तियों के नाम घूरेलाल, रामसनेही, बालश्रमिक, लालाजी, नथुआ, रामधन आदि का भी प्रतीक रूप में प्रयोग किया है जो उसकी शिल्पगत विशेषता को दर्शाता है. पौराणिक प्रतीकों में रामायण और महाभारत के प्रतीक - रावण, कुंभकर्ण, मारीच, राम-लखन, जानकी, अहल्या आदि तथा युधिष्ठिर, अर्जुन, अभिमन्यु, यक्ष, अश्वत्थामा आदि प्रयुक्त हैं.

प्रतीकों लोक के प्रतीकों में "नौटंकी" अत्यंत सशक्त प्रतीक है. प्राकृतिक प्रतीकों में धूप, चांदनी, सूरज, हवा, पतझड़, बबूल, गुलाब, आंधी, तितली आदि अनेकानेक प्रतीकों का बाहुल्य है. यायावर का बिंब विधान भी उनकी संप्रेषण शक्ति को सशक्त बनाता है-"आंखें मलता बाल श्रमिक", "फूलों के हाथों पर अंगारे", "रक्त से तर बतर गौरैया" के सशक्त बिंब इसके उदाहरण हैं. वृंदावन, पगडंडी, राजमहल, पनघट, घंटाघर आदि स्थानबोधी प्रतीकों का प्रयोग डॉ. यायावर ने कई ग़ज़लों में काफ़िया बनाकर किया है जो उनके कथ्य-संप्रेषण को शक्तिवत्ता देता है और अपने आप में अनूठा है.

सादृश्य-योजना में कवि की सफलता कई स्थलों पर चकित कर देती है- "एक भरे ट्रक जैसा रोज़ गुज़रता है मौसम", "प्रश्न बगुलों की तरह ध्यानी हुए", "यादों का वाचाल कन्हैया" तथा "पहाड़ों के ज़ख़्मों की आवाज़" जैसे पदबंध भी कवि की शिल्पगत विशिष्टता के द्योतक हैं. भाषिक प्रयोगों में डॉ. यायावर का लोकोन्मुखी रुझान उनकी ग़ज़लों को शक्ति देता है जैसा- "पीपल वाली चिड़िया", "ज़ख़्मी गौरैया", "रीता घट" (अपशकुन) तथा "यादों का अलाव" आदि प्रयोगों से अर्थ का प्रकाश और उजास निखर-निखर उठता है.

कवि की लेखनी इन ग़ज़लों में युगीन समस्याओं और विसंगतियों का ख़ाका तो खींचती ही है साथ ही साथ उससे उबरने की दिशा भी पाठक को देती है. सबसे पहले समाज में व्याप्त जड़ता की ओर कवि इंगित करता है - "हरकतें तूफ़ान की बढ़ने लगी हैं, एक पत्ता भी मगर हिलता नहीं है." साथ ही वह यह भी कहता है - "मेरे चुप की न तुम यूं उपेक्षा करो, मौन भी बात कहने का अंदाज है." कवि जागृति और चेतना के प्रकाश की एकमात्र कंदील लेखनी को बताता है और कहता है- "लेखनी को न नीलाम घर भेजिए, रोशनी की यही एक कंदील है." कवि कहता है कि "शब्दों में जिस समय हम चिनगारियां लिखेंगे, आंगन में बालकों की किलकारियां लिखेंगे." उसका आह्वान है कि- "उठिए कि मुश्किलों की उंगलियां मरोड़िए."

इस प्रकार "सीप में समंदर" ग़ज़ल-संग्रह हिंदी साहित्य में इस समय ग़ज़लों की भीड़ में अलग पहचान बनाता एक सशक्त ग़ज़ल-संग्रह है. इसमें श्रृंगार की बानगी भी है, बदलते जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक विकर्ष की पीड़ा भी है, युगीन सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियों का दर्द भी है. राजनीति की धूमिल होती छवि और व्यवस्थागत अभिशप्त स्थिति भी है और इस सबके साथ ही एक आशा और आस्था का संदेश भी है. कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से यह संग्रह अग्रगण्य है.

डॉ. रामसनेहीलाल शर्मा यायावर मूलतः गीतकार हैं, इसलिए उनके शेरों में कसावट की कमी है और कथ्य की प्रवहमानता एक मिसरे से चलकर दूसरे तक जाती है, यह वाक्यात्मकता ग़ज़ल की शक्ति को क्षरित करती है. देशज शब्द पौन (पवन) का प्रयोग, वंश का काफ़िया, विध्वंस से मिलाना, रदीफ़ "मौन" की पुनरावृत्ति तथा कहीं-कहीं मात्रा-वजन की विसंगति जैसे ग़ज़ल ४२, मतला तो सही है बाकी हर शेर के पहले मिसरे में २ मात्राओं का वजन अधिक है. ये ऐसी कमियां हैं जो इस संग्रह में विरल हैं किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कवि के ग़ज़ल-शिल्प को आहत करती दिखती हैं. तथापि समग्र दृष्टि से "सीप में समंदर" एक संग्रहणीय ग़ज़ल संग्रह है और निस्संदेह इसका हिंदी काव्य जगत में अच्छा स्वागत होगा - ऐसी आशा की जाती है.

वरिष्ठ प्रवक्ता एवं शोध-निदेशक,
हिंदी विभाग, के. आर. कॉलेज, मथुरा

लघुकथा

छलावा

✍ जीवितराम सेतपाल

कल से घर में अनाज का दाना नहीं था. दाल-चावल-आटा सूंघने के लिए भी नहीं बचा था. बच्चा भूख के मारे रोये जा रहा था, बचा-खुचा जो था, मां ने बच्चे को खिला दिया था रात को ही !

बाप पीकर धुत पड़ा है. मां को भी मजदूरी नहीं मिली थी. लेकिन बच्चे को इससे क्या लेना-देना ? उसे तो भूख लगी है, कुछ खाने को दो.

झोपड़पट्टीवालों को उधार भी तो नहीं मिलता. मां विचारी क्या करती ? भूखी-प्यासी बच्चे को पीठ पर लादे निकल पड़ी मजदूरी की तलाश में. भटककर वापस आ गयी.

पड़ोसन ने थोड़ी-सी चाय दे दी थी, वह बच्चे को पिला दी. थोड़ी देर के लिए ही सही, बच्चा चुप हो गया था. दो बार लात मारकर बच्चे के बाप को उसने जगाया भी था, लेकिन पलक झपका कर वह फिर सो गया.

बच्चा फिर से रोने लगा. उसके पास खिलौने भी तो नहीं हैं, न ऊंट है, न हाथी न, कुत्ता, न बिल्ली, किससे बच्चे को बहलाती ? अभी बरसात बंद थी, केवल बदली छायी हुई थी. उसके मन में एक विचार कौंधा वह बच्चे को गोद में लेकर बाहर आयी और बहला फुसलाकर बच्चे को आसमान में हाथी, घोड़ा, ऊंट सब दिखाने लगी. बच्चा भी आसमान में बदलते बादलों के स्वरूप को देखकर खुश होता रहा और बीच-बीच में अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर उन अस्तित्वहीन खिलौनों को पकड़ने की कोशिश करता. मगर कब तक ?

संपादक 'प्रोत्साहन,'
'सिंधु', बेसमेंट २०५/३१, शीव (पूर्व), मुंबई ४०० ०२२.

कविताएं

कभी ऐसा भी तो हो !

✍ मनमोहन किशोर सिन्हा

एक क्षण दे दो मुझे
कि मेरी आंखों में तुम्हारी आंखें हों
और कोई और दृश्य न हो.

मैं और तुम
लिपटें हों अमर बेल की तरह
और रोयां भी न कांपता हो
एक क्षण ऐसा हो.

सांसों से मिली हो सांसें
आत्मा की गंध आत्मा तक उतरे,
किंतु कोई उच्छवास न हो
एक क्षण ऐसा दे दो मुझे.

सुर और ताल का न हो जंजाल
मगर आत्माएं करती हों नर्तन,
जैसे झील के कांपते जल में
तरंगायित कोई चंद्र-किरन,
एक क्षण ऐसा भी ला देना.

मौन से झरते हों मोती
और मुझमें कुछ खड़के,
तो तुम्हारा दिल धड़के,
मगर होंठ शिलाएं बन जायें,
एक क्षण ऐसा ही चाहिए.

कभी ऐसा भी तो हो मेरी राधा,
कि न वादे हों, न कसमें हों,
न वफ़ा हो, न शिकवे हों,
न उम्मीद की कोई धरोहर हो,
न भविष्य के खो जाने का डर हो,
और हम प्रेम कर सकें
शब्दों के बिना.

'गुप्ता भवन',
ग्रामीण बैंक के ऊपर,
नवकी बाजार, बगहा ८४५ १०१

कोरे काग़ज में

✍ कुंतल कुमार जैन

मैं किसे चिट्ठियां लिखता रहा,
और उन्हें डाकखाने की मुहर
लगने से बचाता रहा.

इकट्ठी होती रहीं
चिट्ठियां ढेर सारी संकलन भर !

इसलिए नहीं
कि जोखम था इन्हें भेजने में,

किंतु जिसे कहते हैं प्रेम
याद करते रहते हैं कह-कहकर प्रेम,

वह थोड़े ही समय पश्चात्
अलग-अलग वस्तुओं में,
अथवा सुविधाओं में
बदल जाता है.

इसीलिए तो
अब मैं,
इन सभी चिट्ठियों के
एक एक शब्द-संसार को

सफ़ेद स्याही से
मिटा मिटाकर
कोरे काग़ज में
बदलना चाहता हूं

कोरे काग़ज में.

२०१ खेतवाड़ी मेन रोड,
बी-१ मोती मेन्सन, मुंबई ४०० ००४

अपने हिस्से की ज़िंदगी !

✍ डॉ. कृष्ण मोहन झा

ये लोग
अति व्यस्त लोग,
सरपट भागते हुए
ये शहरी लोग !
वासना की सवारी पर सवार,
सपरिवार
चाहते हैं -
ज़िंदगी की समतल सड़क
लापरवाही से
रफ़्तार में भागने के लिए
और
लांघने के लिए
जीवन-संघर्ष को
स्पीडब्रेकर की तरह,
जिसके कारण
बिगड़ता है इनका संतुलन
किसी मोड़ पर
निश्चित है
एवं
जा गिरते हैं
किसी खड्ड या खाई में
बेपनाह,
तब;
किराये का घर,
उधार का राशन
तथा
बाजारू रिश्ते में
बेतरतीब कटी-छंटी
इनकी
अपने हिस्से की ज़िंदगी
घर और दफ़्तर के बीच,
सड़क पर
थकने लगती है,
उम्र की सीमा
नापने लगती है.

ई-२४, कोशी कॉलोनी,
बीरपुर, सुपौल (बिहार) - ८५४ ३४०

'एक और समझौता'

✍ घनश्याम अग्रवाल

तुम्हारे हाथ खाली, मेरे हाथ खाली
युद्ध कहीं आसपास था.
तुम्हारे हाथ में लाठी, मेरे हाथ में लाठी
युद्ध शुरू हो गया.
तुम्हारी जेब में चाकू, मेरी जेब में चाकू
युद्ध बढ़ता गया.
तुम्हारे कांधे रायफल, मेरे कांधे रायफल
युद्ध रुका नहीं,
तुम्हारे ज़ेहन में बम, मेरे ज़ेहन में बम
युद्ध होता रहेगा.
...पिछले समझौतों ने बताया है
युद्ध अब युद्ध नहीं रहा
वह हमारी नियति हो गया है.
तो फिर एक समझौता और करें
इस बार युद्ध रोकने का नहीं
मुसल्सल जारी रखने को.
अबके हम अपनी-अपनी
लाठी, चाकू, रायफलें फेंककर
उसके बदले खरीदें
थोड़ा-सा कपड़ा, थोड़ी-सी रोटी,
और थोड़ी दवा,
ताकि हमें मिलें
नर्म चांदनी, गर्म सांसें,
ठंडी हवा.
फिर हम लड़ें, लड़ सकें
एक नये जोश के साथ
खाली हाथों.

अलसी प्लॉट्स, अकोला ४४४ ००४

अभी तो

✍ क्रांति

अभी तो शब्द उतरे हैं
पन्नों पर कविता बनकर,

मगर जब वे धार बनकर
चलेंगे सड़कों पर,
उतरेंगे गलियों में
तब तुम्हारा कोई अन्याय
उनके सामने ठहर नहीं पायेगा,
और न ही चलेगा
तुम्हारा कोई झूठ उनके आगे -
क्योंकि शब्दों में अगर आंच हो
तो उन्हें तलवार बनते देर नहीं लगती.

गीत

✍ निर्मल मिलिंद

प्यार के दो बोल तुमने कहे, मैंने सुने.
न जाने कैसी लहर थी,
ले चली मन को बहाके
देर तक गूंजे तुम्हारे
रेशमी चांदी ठहाके,
ढेर-सी रुई धुनकिया धुने.

आंख फिसली ज्योंकि
काई पर कदम फिसले
महमहाये फिर गुलाबों से
भरे गमले,
और रिश्ते, शिशिर ऋतु की धूप से गुनगुने.

१ एफ, सरस्वतीनगर, टुइलाडुंगरी गोलपुरी, जमशेदपुर-८३१ ००३

हर बार

हर बार
श्रेष्ठ अभिनय
करने के बाद,
तुम चले जाते हो
तालियां बटोरकर
फिर वो उठता है दरियां,
समेटता है परदा,
मिटाता है मंच सज्जा.

जो गूंगे होते हैं
हर बार नाटक मंडली में
बस यही काम करते हैं.

डॉ. शिवा कनाटे, सी-१८ बीमा दवाख़ाना स्टाफ क्वार्टर्स, गोत्री रोड, बड़ोदरा-३९००२१

पाठक कृपया नोट करें

पिछले अंक में डॉ. रूपसिंह चंदेल के ताज़ा उपन्यास का एक अंश 'नहान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था. चंदेल जी अपने इस उपन्यास का नाम पहले 'जाल' रखना चाह रहे थे जो अब बदलकर 'नटसार' हो गया है. उपन्यास शीघ्र प्रकाशित हो रहा है.

ग़ज़लें

✍ प्रेमलता त्रिपाठी

सच बोलूं तो डर लगता है
सहमा-सहमा घर लगता है ।

पांव बचा लो चट्टानों से
जख़्मों पर भी कर लगता है ।

मन की बात छुपा लो मन में
कानों से अब डर लगता है ।

वहशीपन आसान नहीं है
रोज़ रोज़ बदतर लगता है ।

गीत, ग़ज़ल खुदकुशी का धंधा
रातो-दिन नश्तर लगता है ।

बी-५, नालंदा, अणुशक्तिनगर, मुंबई - ४०० ०९४

✍ दिनेश सिंदल

इसी आमद का ही मानी ग़ज़ल है
खुदा की ये मेहरबानी ग़ज़ल है ।

मैं बरसों से उसे देखा किया हूं
रही फिर भी वो अंजानी ग़ज़ल है ।

सुनाये ढाई आखर प्रीत के जो
कबीरा की कही बानी ग़ज़ल है ।

भरी झोली समय की खुशबुओं से
सुना है फूल-सी दानी ग़ज़ल है ।

समय की सलवटों को जान पाया
पढ़ी तेरी जो पेशानी ग़ज़ल है ।

नदी तो है प्रतीक्षा में किसी की
बनाता रास्ता पानी ग़ज़ल है ।

इसी उम्मीद में बैठा किया हूं
कभी तो घर मेरे आनी ग़ज़ल है ।

२० ई/५३, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर (राज.)

जंग जारी है

✍ डॉ. भगीरथ बड़ोले

हर कहीं एक जोश, होश में खुद्दारी है
इसलिए रोज़ अंधेरों से जंग जारी है ।

बयान कैसे करें, कैसे दिन जिये हमने
छटपटाहट के साथ रात हर गुज़ारी है ।

लोग लाचार अंधेरों की गुलामी कर के
ज़िंदगी कैद से आज़ाद अब हमारी है ।

नसीब छीन के लायेंगे पसीने वाले
बेबसी टूट रही, रोशनी से यारी है ।

जीत इस बार ज़माने में हमारी होगी
शिकारियों के ही शिकार की तैयारी है ।

साथ लेकर चले हैं नेक इरादे सारे
ख्वाब जीतेंगे, हमारी ज़वाबदारी है ।

देख लेना हजारों हाथ, साथ में होंगे
सच्चाइयों की ज़माने में आज बारी है ।

आवाज़ सुन

फिर ज़हर के ढेर से मत मौत का सामान चुन
बेधड़क होकर कहीं कुछ वक्त की आवाज सुन

राख ही होते रहे हैं स्वप्न सारे सुबह के
ख़त्म होते जा रहे हैं राह से सारे शकुन ।

लीलती संवेदना को यंत्र बनकर ज़िंदगी
फिर तमाशों से जुड़ी है धड़कनों की एक धुन ।

फायदों को ही भुनाता हर नियम, हर कायदा
सच अंधेरों से घिरा है, यूं नहीं अंदाज़ बुन ।

रोज सांचों में ढले वक्तव्य बहलाते रहे
अस्मिता को तोड़ती चालाकियों को आज गुन ।

२८६, विवेकानंद कालोनी, फ्रीगंज, उज्जैन ४५६ ०१०

लघुकथाएं

आसमां

✍ आलोक कुमार सातपुते

वह शिशु बिस्तर पर पड़ा-पड़ा रोशनदान की ओर देखता तो उसे आसमान रोशनदान के आकार का ही दिखता. कुछ महीनों बाद वह घुटनों के बल चलते हुए खिड़की के पास पहुंच गया तो उसे आसमान कुछ अधिक बड़ा दिखायी पड़ा. कुछ महीने और बीतने पर वह अपने पैरों पर चलने लायक हो गया और एक दिन वह सीढ़ियां चढ़ते हुए घर की छत पर जा पहुंचा...अब उसे आसमान, व्यापक रूप में नज़र आने लगा.

...और अब वह आसमान छूने की तैयारी में है.

हम सब एक हैं ...

आज़ादी के बाद उस देश में लागू लोकतांत्रिक पद्धति में सत्ता पक्ष राजशाही की परंपरा चलाने लगा तो विरोधियों ने लोकतांत्रिक पद्धति से विरोध दर्ज़ कराया और जनता ने विरोधियों को सत्ता सौंप दी. कुछ महीनों बाद पता चला कि ये भी कुछ कम नहीं हैं, सो अगली बार जनता ने प्रयोग के तौर पर अपराधियों को सत्ता सौंप दी...अब तो अपराधियों को अपराध करने का लायसेंस मिल गया और देश में खुले आम अपराध होने लगे. खीज कर अगली बार जनता ने हिजड़ों को सत्ता सौंप दी.

...आज जनता, विभिन्न राष्ट्रीय समारोहों में उन सबको एक दूसरे का हाथ पकड़े 'हम सब एक हैं' का नारा लगाते हुए देखती है.

...शायद अगली बार जनता गुलामी को ही चुने.

ज्योतिपुर चौक, पेंड्रारोड,
जिला - बिलासपुर ४९५ ११७ (छत्तीसगढ़)

ठहाका

✍ दामोदर मोदी

एक साहब डॉक्टर की क्लीनिक से निकल कर फुटपाथ पर खड़ी अपनी मोटर साइकिल पर बैठते हैं. सड़क और उनके बीच एक फटे हाल रिक्शे वाला खड़ा है. "अबे हट, हटता क्यों नहीं, रास्ता रोके साले खड़े रहते हैं," वे क्रोधित हो उठते हैं. रिक्शे वाला सहम जाता है और चुपचाप हट जाता है, मोटर साइकिल स्टार्ट कर साहब आगे बढ़ते हैं, तब तक एक कार उनके रास्ते में आकर खड़ी हो जाती है. साहब के चेहरे पर कुछ झुंझलाहट आती है पर वे उस कार वाले को कुछ नहीं कह पाते. किसी तरह मोटर साइकिल वहां से निकाल कर सड़क पर आ जाते हैं. लस्त-पस्त वे रिक्शे वाले को फिर घूर कर देखते हैं रिक्शे वाला वहीं खड़ा-खड़ा जोर का ठहाका लगाता है और रिक्शे पर मस्ती के आलम में चल देता है, कुछ गुनगुनाता हुआ.

जगन्नाथ वस्त्रालय, छावनी बाजार,
बहराइच - २७१८०१

ग़ज़लें

✍ कृष्ण सुकुमार

(१)

भूख ले जाती है इतनी दूर अक्सर शाम को,
आ नहीं पाते परिंदे लौटकर घर शाम को ।

मैं समझता हूं उजाले पेड़ पर लगते नहीं,
क्यों न हम हो जायें रोशन ख़ुद सुलगकर शाम को ।

जिस जगह था कल सुरक्षा का दिया जलता हुआ,
आजकल तैनात रहते हैं कई डर शाम को ।

हादसों की आग में सारे उजाले झोंक कर,
रोज़ देते हो दुआएं भी बराबर शाम को ।

दो क़दम आहिस्ता चल के देख लें क्या हर्ज़ है,
उम्र भर की दौड़ दे सकती है ठोकर शाम को ।

(२)

होता है यूं मज़ाक कभी ज़िंदगी के साथ,
पायी किसी के साथ थी, जी है किसी के साथ ।

मालुम नहीं क्या सोच कर वो आग पी गया,
मुद्दत से था जो मुत्मइन तश्नगी के साथ ।

दरिया की मौज उसको कहीं दूर ले गयी,
वो लौट तो आया है मगर बेख़ुदी के साथ ।

ख़्वाबों के साथ ज़िंदगी ऐसे गुज़र गयी,
बहती है प्यास जैसे सूखी नदी के साथ ।

सूरज हुआ तो धूप ने गुमराह कर दिया,
जब तक था दीप ख़ुश रहा वो रोशनी के साथ ।

१९४/१०, सोलानी कुंज,
आई. आई. टी., रुड़की - २४७ ६६७

कुछ कही, कुछ अनकही

(. . . पृष्ठ ४ से आगे)

अयोध्या में, राम मंदिर का शिलान्यास भी राजीव गांधी के काल में ही हुआ था. उच्चतम न्यायालय ने उन्हीं दिनों शाहबानू के मामले में उसके पक्ष में फैसला दिया था. लेकिन बहुमत का सहारा लेकर, तुष्टीकरण के चलते संसद से उस फैसले को रद्द करवा दिया गया. फिर आया बोफर्स कांड जो अंततः राजीव गांधी की सरकार को ले डूबा. यहां इन सब घटनाओं का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि बग़ैर पृष्ठभूमि जाने, जो कुछ वर्तमान में घट रहा है उसका सही विश्लेषण नहीं किया जा सकता.

●

लोकतंत्र में हर राजनीतिक पक्ष को सत्ता में आने का अधिकार है. मुस्लिम वोट बैंक नष्ट करने के लिए भाजपा ने राम मंदिर के मुद्दे को उठाया और देश के ८५ प्रतिशत हिंदुओं को एकजुट होने का आह्वान किया. लाल कृष्ण अडवाणी ने गुजरात के सोमनाथ मंदिर से एकता यात्रा निकाली. इसे कुछ लोग राजनीति में धर्म की घुसपैठ के रूप में देखते हैं. पर भारतभूमि आज से नहीं हजारों-हजारों सालों से राम-कृष्ण की धरती के रूप में जानी जाती है. अयोध्या में राम मंदिर का निर्माण राष्ट्र की गरिमा और प्रतिष्ठा से जुड़ गया है. बाल गंगाधर तिलक ने भी महाराष्ट्र में सार्वजनिक गणेशोत्सव की शुरुआत इसीलिए की थी कि भारतीय जनमानस को एकत्रित होकर अपनी बात कहने का मौका मिले.

१९८९ के चुनावों में राजीव गांधी को मुंह की खानी पड़ी और भाजपा की मदद से राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह गद्दी पर आसीन हुए. विश्वनाथ प्रताप सिंह की एक स्वच्छ राजनीतिज्ञ की छवि थी. उनके पास वर्षों का अनुभव था. लोगों को लगा कि हो न हो अब देश की राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन अवश्य आयेगा. किंतु कमंडल के ज़वाब में मंडल का जिन्न सामने आया. वापस सब कुछ - ढाक के तीन पात पर आ गया. उसी दौरान एक और भी बड़ी भूल हुई जब तात्कालीन गृहमंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद की बेटी रज़िया के बदले में चार खूंखार आतंकवादियों को छोड़ दिया गया. इसके बाद से आतंकवादियों के हौसले बहुत बुलंद हो गये. ख़ामियाज़ा भुगतना पड़ा उन लाखों कश्मीरी हिंदुओं को जिन्हें अपना सब कुछ छोड़कर आज भी दिल्ली के शरणार्थी कैंपों में रहना पड़ रहा है. यहां इस काले इतिहास का उल्लेख करने का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि आज समस्याएं इतनी उलझ गयी हैं कि बिना सही कारणों को जाने उनका समाधान नहीं हो सकता. कश्मीर में आतंकवाद बढ़ने के पीछे १९७१ का युद्ध भी एक बड़ा कारण है. बांग्ला देश के अलग हो जाने के बाद हर पाकिस्तानी शासक के लिए यह ज़रूरी है कि वह भारत विरोध को बढ़ावा दे तभी वह अपनी पैठ मजबूत कर सकता है. पहले खलिस्तान को खुला समर्थन देकर इसकी कोशिश की गयी और फिर पिछले १२ सालों से कश्मीर में यह 'धर्मयुद्ध' (ज़ेहाद) या एक अघोषित लड़ाई जारी है. यह ज़ेहाद सिर्फ़ कश्मीर तक ही सीमित नहीं है. पूरे भारतवर्ष में फैला हुआ आतंकवाद इसी अघोषित लड़ाई का एक हिस्सा है. चाहें वह १३ दिसंबर को संसद भवन पर हमला हो, श्रीनगर के विधान भवन में आत्मघाती हमला हो, कोलकाता में अमरीकी केंद्र पर सुरक्षाकर्मियों पर गोलियां चलाने की घटना हो, जम्मू में रघुनाथ मंदिर में नागरिकों को भूनने की घटना हो और हाल ही में कश्मीर में कालूचक में सैनिकों के परिवारों की हत्याओं का हादसा हो. निर्मम और बर्बर हत्याओं के इस सिलसिले में पिछले १०-१२ सालों में हजारों जानें गयी हैं. यह सारा कुछ पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवाद का परिणाम है. आज हमारे सैनिक पांच महीनों से सीमा पर तैनात हैं - उनकी और उनके परिवार वालों की मानसिक दशा क्या होगी इसकी कल्पना करना बहुत मुश्किल नहीं है. और अमरीका जिसने तुरत-फुरत मध्य एशिया के इतने बड़े भू-भाग को निगलकर अपने कब्ज़े में कर लिया भारत से संयम बरतने की बात करता है !

आदमी-आदमी की जान में कोई फ़र्क नहीं होता, चाहे वह गोधरा में मारा जाये या गुजरात में, चाहे वह हिंदू हो, कश्मीरी हो, सिख हो, मुसलमान हो या माओवादियों और नक्सलियों द्वारा बिहार, आंध्रा और मध्य प्रदेश में मरने वाले लोग या फिर उत्तरपूर्वी राज्यों में हिंसा में मरने वाले हों. सबके खून का रंग एक ही है. हर वर्ष प्राकृतिक प्रकोपों और आपदाओं से बहुत से लोग मरते हैं - सूखा, बाढ़, सर्दी-गर्मी - अनेक बीमारियों से मरने वालों की संख्या भी लाखों में होती है - भूस्खलन और भूकंप भी कभी मृत्यु का कारण बनते हैं. इसके साथ ही देश के विभाजन के बाद से सैकड़ों दंगे होते रहे हैं. १९९२ में बाबरी मस्जिद के गिरने पर दंगे अयोध्या में नहीं हुए. मुंबई के दंगों की शुरुआत दो माथाड़ी कामगारों की हत्या और जोगेश्वरी की मीराबाई चाल को जला कर की गयी, गोधरा की तरह ही, पहल बहुसंख्यकों ने नहीं की थी. दंगों के दौरान बांद्रा में बेहरामपाड़ा में क्या हुआ ? श्रंखलाबद्ध बम विस्फोटों के पीछे किसका हाथ था ? यह पूछना धर्मनिरपेक्षता नहीं है. श्रीकृष्ण आयोग ने मुंबई के पुलिस आयुक्त को दोषी बताया पर आफ़ताब अहमद खान का नाम कहीं नहीं आया. ऐसे में कोई पुलिस अधिकारी व्यर्थ अपनी जान ज़ोखिम में क्यों डालेगा. जुनून का प्रतिउत्तर भी जुनून ही होगा. किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि भीड़ का कोई चेहरा नहीं होता. हिंदू कितना भी सहिष्णु क्यों न हो, बरसों से मन में, सही या ग़लत, जो आक्रोश जमता गया है वह एक चिन्गारी पाते ही गुजरात में भड़क उठा. कल यह स्थिति देश के किसी भी भाग में उत्पन्न हो सकती है, शायद और अधिक उग्रता से. गोधरा भी ग़लत है और गुजरात में जो हुआ वह भी क्षम्य नहीं है. किंतु आप चाहें जितनी 'शांति यात्राएं' या 'पीस मार्च' निकालें, जब तक नासूर का पूरा और सही इलाज़ नहीं होगा मवाद अंदर-अंदर फैलता ही रहेगा.

●

आज भारत का मुसलमान एक दोराहे पर खड़ा है. उसकी देशभक्ति संदिग्ध हो गयी है. उसे अग़र देश की प्रगति और समृद्धि में भागीदार होना है तो बहुत ही कठोर निर्णय लेने होंगे. अपनी कट्टरता को छोड़कर एक नयी पहचान बनानी होगी. यदि उसे ज़ेहाद ही करना है तो जैसा कुरान में कहा गया है, वह अपनी कमज़ोरियों से लड़े और एक अच्छा मुसलमान बनने की पुरजोर कोशिश करे. इसी से देश में अमन की स्थायी बहाली होगी. यही गुजरात की सीख है.

अरविंद

(. . . पृष्ठ ३ से आगे)

के प्रकाशकों के कार्यों पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अक्षरशः सत्य हैं. उन्होंने अपने लेखन के बारे में भी सीधी-सच्ची बातें कही हैं. इस तरह के विचार अन्य रचनाकार व्यक्त नहीं कर पाते. 'आमने-सामने' में डॉ. तेज सिंह ने विकृत साहित्यिक राजनीति के माहौल को समक्ष रखकर अनेक चेहरों को बेनकाब किया है. लघुकथाएं मर्मस्पर्शी हैं. कहानियों में 'दरार', 'कर्फ्यू', 'दस का नोट' तथा उपन्यास अंश 'नहान' विशेष पसंद आये. अन्य कहानियां भी स्तरीय हैं. वस्तुतः इस अंक की सभी कहानियों में अनेक समकालीन प्रश्नों को उठाया गया है. बड़े लोगों के नकली चेहरे, चरित्र का दोहरापन, नैतिक पतन, कोयला खान में मृत मजदूरों का शर्मनाक सच, ट्रक ड्राइवर की विश्वसनीयता एवं विवशता, एक कलमकार का छद्म दैनिक कार्यकलाप, सामंतवाद का गरीबों के प्रति खूंखार दृष्टिकोण, इत्यादि बातें कहानियों में ढलकर यथार्थ का दस्तावेज़ बन गयी हैं. ग़ज़लें व कविताएं भी पसंद आयीं.

डॉ. जनार्दन यादव
पो. नरपत गंज, जिला - अररिया ८५४ ३३५ (बिहार)

अपने तेवर एवं प्रस्तुतियों से आपकी यह पत्रिका दिनानुदिन परवान चढ़ रही है. उद्धहरणों में प्रसंगानुसार इसका भी उल्लेख होता ही रहता है. यह सब आपकी निष्ठा तथा समर्पण का ही प्रतिफल है. बधाई !

इस अंक में बातचीत का अंश बड़ा ही विश्लेषणपरक एवं अंतर्मन की परतों को बेवाक टिप्पणियों सहित पाठकों को नये सिरे से अपनी सोच को तराशने का मौका प्रदान करता है. कथाकार श्री रामधारी सिंह 'दिवाकर' के संवाद-अंश उत्तम सिद्ध हुए. श्री सिद्धेश्वर ने ज्वलंत प्रश्नों को उजागर करके समकालीन लेखन के कई पक्षों को कुरेदा है. दोनों को मेरी ओर से बधाई.

कहानियां भी छन-छनकर आवृत्त हुई हैं. कवितांश भी प्रभावित कर गये. प्रकाशन-श्रृंखला के अवरोध का कारण सर्वज्ञात है ही. आपके समक्ष भी अर्थ-संकट आते ही होंगे. तथापि 'चरैवेति-चरैवेति' के सूत्र को न भूलना चाहिए.

डॉ. वीरेंद्र कुमार वसु,
कॉलेज रोड, सीतामढ़ी ८४३ ३०२ (बिहार)

'रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार'

पिछले वर्ष, अपनी कथाकारा पत्नी रेखा सक्सेना की बरसी पर उनकी स्मृति में श्री उमेश चंद्र सक्सेना (२०१/बी, 'पायल', आशा नगर, कांदिवली (पू.), मुंबई ४०० ०१०) ने, हर साल, 'कथाबिंब' को ५००० रु. देने की पेशकश की थी. इस राशि का उपयोग पूरे वर्ष में प्रकाशित आठ कहानियों के रचनाकारों को पुरस्कृत करने में किया जा रहा है. श्रेष्ठता क्रम का निर्णय हमने पूरी तरह पाठकों पर छोड़ा है ताकि पाठक कहानी पढ़ने के साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी करते चलें और साल के अंत में अपना निष्पक्ष निर्णय दें.

पाठकों के अभिमतों के आधार पर वर्ष २००१ के 'कथाबिंब' के अंकों में प्रकाशित कहानियों का श्रेष्ठता क्रम निम्नवत रहा. सभी पुरस्कार विजेताओं को बधाई ! खेद है कि किसी भी पाठक या पाठिका द्वारा दिया गया क्रम, अंतिम सूची से मेल नहीं खाता है.

प्रथम पुरस्कार (१००० रु.)

हम जिंदा हैं ! - **उषा भटनागर**

द्वितीय पुरस्कार (७५० रु. प्रत्येक)

कर्फ्यू - **नरेंद्र कौर छाबड़ा** ● *दरार* - **जसवंत सिंह 'विरदी'**

प्रोत्साहन पुरस्कार (५०० रु. प्रत्येक)

● *समर्पण* - **डॉ. सतीश दुबे** ● *काके की गड्डी* - **राजेंद्र सिंह गहलौत**
● *मां, मुन्नु कब आयेगी* - **प्रतिभू बनर्जी** ● *अंजुम तुम लौट आओ* - **संगीता आनंद**
● *संदेह के घेरे* - **धनजीत कौर**

: प्राप्ति - स्वीकार :

यह जग काली कूकरी (उपन्यास) : सूर्यकांत नागर, दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली ११० ०३५ मू. १४० रु.

अनुमेहा (उपन्यास) : सरला अग्रवाल, अयन प्रकाशन, १/२० महरौली, नयी दिल्ली ११० ०३० मू. ६० रु.

चेहरा और परछाई (उपन्यास) : डॉ. अजय शर्मा, मनप्रीत प्रकाशन, १६/१६ गीता कॉलोनी, दिल्ली ११० ०३१ मू. १०० रु.

घोड़ा बाज़ार (कहानी संग्रह) : विजय, मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली ११० ०३२ मू. २०० रु.

इक्सीस कहानियां (कहानी संग्रह) : डॉ. रूपसिंह चंदेल, सुनील साहित्य सदन, ३३२०-२१ जटवाड़ा, दरियागंज, नयी दिल्ली ११० ००२ मू. २०० रु.

काला तोता (कहानी संग्रह) : राजेश जैन, त्रिपथगा, ४ इंडस पार्क (फेज़-१), अयोध्या नगर बाइपास, भोपाल ४६२ ०२१ मू. १८५ रु.

शेष इतिहास (कहानी संग्रह) : डॉ. रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान, ११२ एस. एफ. एस. फ्लैट्स, ई-ब्लॉक, सेक्टर-१८, रोहिणी, दिल्ली ११० ०८५ मू. ५० रु. (पेपर बैक संस्करण)

प्रवास में (कहानी संग्रह) : उषा राजे सक्सेना, ज्ञान गंगा, २०५-सी, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली ११० ००६ मू. १५० रु.

कुछ और तरह से भी (ग़ज़ल संकलन) : हस्तीमल 'हस्ती', काव्या प्रकाशन, २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज (पू.), मुंबई ४०० ०५५ मू. ७० रु.

देश-भर के जाने-माने सृजनधर्मी शब्द-साधकों के साथ-साथ
उदीयमान प्रतिभाओं की सशक्त लेखनी का संयुक्त मंच

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिंदी भाषा और साहित्य के उन्नयन हेतु सतत प्रयत्नशील

हिंदी अकादमी, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित एक ऐसी संपूर्ण साहित्यिक पत्रिका जो सहज मानवीय संवेदनाओं, उदात्त जीवन-मूल्यों तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक-चेतना का अनूठा संगम और हर वर्ग के पाठक की अपेक्षाओं के अनुकूल पठनीय एवं संग्रहणीय है ।

लगभग एक सौ पचहत्तर पृष्ठ ● मूल्य : एक प्रति 25/- रु. मात्र (वार्षिक 100/- रू. मात्र)

सुरुचि-संपन्न, स्वस्थ, सकारात्मक अभिव्यक्ति की सूत्रधार 'इन्द्रप्रस्थ भारती' के स्थायी सहभागी बनें । आज ही अपना वार्षिक शुल्क **सचिव, हिंदी अकादमी**, दिल्ली के नाम मनीऑर्डर/चैक द्वारा (स्थानीय) भिजवाकर सदस्यता प्राप्त करें ।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें - **डॉ. रामशरण गौड़**,
सचिव, हिंदी अकादमी, दिल्ली समुदाय भवन, पदम नगर, किशन गंज, दिल्ली-110007,
दूरभाष : (011) 355 0274, 362 1889, 353 6897

हमकदम लघु-पत्रिकाएं

(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें.)

बराबर (पा.) - ए. पी. अकेला, ५ यतीश बिजनेस सेंटर, इर्ला सोसायटी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कथादेश (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००९ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
तिब्बत देश (मा.) - विजय क्रांति, १० रिंग रोड, लाजपत नगर-४, नयी दिल्ली - ११० ०२४
दाल-रोटी (मा.) - अक्षय जैन, १३ रश्मन अपार्टमेंट, एस. एल. रोड, मुलुंड (प.), मुंबई - ४०० ०८०
वागर्थ (मा.) - प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७
साहित्य अमृत (मा.) - विद्यानिवास मिश्र, ४/१९ आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ००२
शुभ तारिका (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
शिवम् (मा.) - विनोद तिवारी, जय राजेश, ए-४६२, सेक्टर-ए, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०३९
अरावली उद्घोष (त्रै.) - बी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
अपूर्व जनगाथा (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
अभिनव प्रसंगवश (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, ४/१०६, मोती मिल कंपाउंड, अलीगढ़ (उ. प्र.)
असुविधा (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड़ुई, पो. पन्नूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
अक्षरा (त्रै.) - गोविंद मिश्र, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
आकंठ (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया ४६१ ७७५ (म. प्र.)
अंचल भारती (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, ६/५४ देवरिया-रामनाथ, देवरिया - २७४ ००१
अंतरंग (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंतरंग संगिनी (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कंचन लता (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
कृति ओर (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
कथन (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
कथा समवेत (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर - २२८ ००१
कारवां (त्रै.) - कपिलेश भोज, पो. सोमेश्वर, अल्मोड़ा - २६३ ६३७
कल के लिए (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', प्लानिंग कॉलोनी, अलीगढ़ (उ. प्र.)
कहानीकार (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
गीतकार (त्रै.) - साथी छतावरी, ९३३/२ तंवर मार्ग, नज़फगढ़ रोड, नयी दिल्ली - ११० ०१५
गुंजन (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
तटस्थ (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
तेवर (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
दस्तक (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
दीर्घाबोध (त्रै.) - कमल सदाना, अस्पताल चौक, ईसागढ़ रोड, अशोक नगर ४७३ ३३१ (म. प्र.)
दीर्घा (त्रै.) - डॉ. विनय, २५ बैंगलो रोड, कमला नगर, दिल्ली ११० ००७
निमित्त (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
निष्कर्ष (त्रै.) - गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर - २२८ ००१
परिधि के बाहर (त्रै.) - नरेंद्र प्रसाद 'नवीन,' पीयूष प्रकाशन, महेंद्रू, पटना - ८०० ००६
पश्यंती (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
प्रयास (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
प्रेरणा (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
पुरुष (त्रै.) - विजयकांत, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
भाषा सेतु (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
मसि कागद (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
मुहिम (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१
युग साहित्य मानस (त्रै.) - सी. जय शंकर बाबु, १८/७१५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल - ५१५ ८०१ (आं. प्र.)
युगीन काव्या (त्रै.) - हस्तीमल 'हस्ती,' २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज, मुंबई - ४०० ०५५
वर्तमान जनगाथा (त्रै,) - बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर - ३०२ ००४
शब्द-कारखाना (त्रै.) - रमेश नीलकमल, अक्षरविहार, अवंतिका मार्ग, जमालपुर - ८११ २१४ (बिहार)
संदर्भ (त्रै.) - संगीता आनंद, चुरू कोठी हाता, मोराबादी, रांची ८३४ ००८

सार्लक (त्रै.) · मधुकर गौड़, डी-३ शांतीनगर, दत्त मंदिर रोड, मलाड (पू.), मुंबई · ४०० ०९७
संबोधन (त्रै.) · कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली · ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) · शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता · ७०० ००७
साखी (त्रै.) · केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर · २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) · गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर · ४९२ ००१
समझ (त्रै.) · डॉ. सोहन शर्मा, ए/१२ दीपसागर, पंतकी बाग के पास, अंधेरी (पू.), मुंबई · ४०० ०६९
सार्थक (त्रै.) · मधुकर गौड़, १/ए/३०३ ब्ल्यू ओसन, ब्ल्यू एंपायर कॉम्पलेक्स, महावीर नगर, कांदिवली (प.), मुंबई · ४०० ०६७
संदर्भ (त्रै.) · संगीता आनंद, चुरू कोठी हाता, मोराबादी, रांची · ८३४ ००८
संयोग साहित्य (त्रै.) · मुरलीधर पांडेय, २०४/'ए' चिंतामणि अपार्टमेंट, आर.एन.पी. पार्क, काशी विश्वनाथ नगर, भयंदर, मुंबई · ४०११०५
स्वातिपथ (त्रै.) · कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, मुनीडीह, धनबाद · ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) · संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं, १६४, आसनसोल ७१३३०१
शुरुआत (त्रै.) · वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) · हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर -३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) · डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई · ४०० ००२
अविरल मंथन (छ.) · राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ · २२६ ०२०
अब (अ.) · शंकर / अभय / नर्मदेश्वर, ७४ इ, गोरक्षिणी पथ, ससाराम · ८२१ ११५
उत्तरार्द्ध (अ.) · विजयलक्ष्मी, ३८८ राधिका विहार, मथुरा · २८१ ००४
कला (अ.) · कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां · ८५४ ३०१
पुनः (अ.) · कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना · ८०० ०२०
सरोकार (अ.) · सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया · ८५४ ३३४
समीचीन (अ.) · डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४
सम्यक (अ.) · मदन मोहन उपेंद्र, ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

'कथाबिंब' यहां भी उपलब्ध है :

- **पीपुल्स बुक हाउस,** मेहर हाउस, १५ कावसजी पटेल स्ट्रीट, मुंबई - ४०० ००१. फोन : २८७ ३७३८
- **व्यवस्थापक बुक कॉर्नर,** श्रीराम सेंटर, सफ़दर हाशमी मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१.
- **डॉ. देवकीनंदन,** ए-१/३०४, हृषीकेश, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉम्प्लेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०००५३. फोन : ६३२ ०४२५
- **श्री वीरेंद्र सिंह चंदेल,** १३६ तलैय्या लेन, परेड ग्राउन्डस, फतेहगढ़ - २०९६०१
- **श्री रविशंकर खरे,** हरिहर निवास, माधोपुर, गोरखपुर - २७३००१.
- **श्री राजेंद्र आहुति,** ए १३/६८, भगतपुरी, वाराणसी-२२१००१.
- **स ब द,** १७१ कर्नलगंज, स्वराज भवन के सामने, इलाहाबाद - २११००२.
- **डॉ. गिरीश चंद श्रीवास्तव,** ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर-२२८००१. फोन : २३२८५
- **श्री अनिल अग्रवाल,** परिवेश लघु पत्रिका मंडप, पुराना गंज, रामपुर-२४४९०१. फोन : ३२७३६१
- **श्री योगेंद्र दवे,** ब्रम्हपुरी, पीपलिया, जोधपुर-३४२००१
- **श्री राही सहयोग संस्थान,** शकुंतला भवन, बालाजी के मंदिर के पास, वनस्थली-३०४ ०२२ (राज.). फोन : २८३६७
- **श्री भुवनेश कुमार,** सं : कविता, २२० सेक्टर-१६, फरीदाबाद - १२१००२
- **श्री गोविंद अक्षय,** अक्षय फीचर सर्विसेस, १३-६-४११/२, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद - ५०००६७.
- **श्री नूर मुहम्मद 'नूर',** सी. सी. एम. क्लैम्स लॉ, दक्षिण पूर्व रेल्वे, ३, कोयला घाट स्ट्रीट, कलकत्ता - ७००००१
- **श्री संजय सिन्हा,** पोस्ट बॉक्स नं. १६४, आसनसोल-७१३३०१
- **श्री देवेंद्र सिंह,** देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर - ८१२००१.
- **व्यवस्थापक,** सर्वोदय बुक स्टाल, रेल्वे स्टेशन, भागलपुर - ८१२००१.
- **श्री कलाधर,** आदर्श नगर, नया टोला, पूर्णियां - ८५४३०१.
- **मेसर्स लाल मणि साह,** आर.एन.साव, चौक, पूर्णिया - ८५४३०१.
- **श्री महेंद्र नारायण पंकज,** राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, अररिया - ८५४३३४.
- **श्री बसंत कुमार,** दीर्घतपा, वार्ड-६, अररिया -८५४३३४.
- **सुश्री मेनका मल्लिक,** चतुरंग प्रकाशन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५११३४
- **श्री रणजीत बिहारी,** पत्रिका मंडप, पंचवटी, चीरागोड़ा, धनबाद - ८२६००१.
- **श्री प्रभात कुमार चौधरी,** प्रभात स्टेशनरी (दूकान नं.१), आयकर चौराहा, लालबाग, दरभंगा - ८४६ ००८.
- **श्री देवेंद्र होलकर,** १८८ सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर - ४५२००९. फोन : ४८४ ४५२
- **श्री मिथिलेश 'आदित्य',** पोस्ट बॉक्स-१, मेनरोड, जोगबनी - ८५४३२८

हमारे आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव है तो कृपया हमें लिखें.

- संपादक

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, नयी दिल्ली
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह बिष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश चंद्र श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, नवी मुंबई
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, रांची
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख़्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी

With best compliments from :

soni

ALUMINIUM HARDWARE

Specialist in :

ALUMINIUM, HARDWARE, SANITARY

Shop No. 1 Rajasthan Complex,
Near Hotel Maharana, S. T. Road,
Chembur Naka, Mumbai - 400 071.
Tel. : 522 9125, 529 9065

With best compliments from :

PLYWOOD SARITA

ALUMINIUM & HARDWARE

Special Moulding

PLYWOOD, TIMBER, LAMINATES, VINEERS

T-94/5, Mahul Road, Chembur Colony,
Opp. 6 Ltd. Bus Stop,
Mumbai - 400 074.
Tel. : 555 2312, 550 2607

With best compliments from :

SHUBHAM

LAMINATES & VINEERS

Shop No. 2. Sunny Estate,
Opp. Dena Bank, Near Diamond Garden,
Sion-Trombay Road, Mumbai 400 071.
Tel. : 527 8123
Mobile : 98212 57074

With best compliments from :

Shubham

- **PLYWOOD**
- **TIMBER**
- **LAMINATES &**
- **VINEERS ETC.**

Opp. Celebration Hotel,
Near Diamond Garden,
S. T. Road, Chembur,
Mumbai - 400 071.
Tel. : 527 1700, 528 2807

With
Best
Compliments
From

ORION CAPITAL SERVICES LTD.

Mumbai

निवेदन

रचनाकारों से

'कथाबिंब' एक कथा प्रधान त्रैमासिक पत्रिका है. कहानी के अलावा लघुकथाओं, कविता, गीत, ग़ज़लों का भी हम स्वागत करते हैं. कृपया पत्रिका के स्वभाव और स्तर के अनुरूप ही अपनी श्रेष्ठ रचनाएं प्रकाशनार्थ भेजें.

१. कृपया केवल अपनी अप्रकाशित और मौलिक रचनाएं ही भेजें. अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखक की अनुमति आवश्यक है.
२. रचनाएं कागज़ के एक ओर अच्छी हस्तलिपि में हों अथवा टंकित करवा कर भेजें.
३. रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रखें. वापसी के लिए स्व-पता लिखा, टिकट लगा लिफाफा अवश्य साथ रखें.
४. सामान्यतः प्रकाशनार्थ आयी कहानियों पर एक माह के भीतर निर्णय ले लिया जाता है, अन्य रचनाओं की स्वीकृति/अस्वीकृति की अवधि दो से तीन माह हो सकती है.

ग्राहकों / सदस्यों से

कृपया समय रहते अपने शुल्क का नवीनीकरण करा लें. नये सदस्यों/ग्राहकों को शुल्क प्राप्त होने की अलग से सूचना भेजना संभव नहीं है. यदि तीन माह के भीतर नया अंक न मिले तो कृपया अवश्य सूचित करें.

नवनीत का नजराना...
नन्हे-मुन्नों के लिए कहानियों का खजाना

बच्चों के जन्मदिन पर अथवा अन्य शुभ अवसरों पर कहानियों की इन पुस्तकों का सेट बच्चों को उपहार के रूप में दीजिए तथा 'एक सर्वोत्तम, आदर्श उपहार' देने का संतोष पाइए।

नवनीत पब्लिकेशन्स (इंडिया) लिमिटेड

नवनीत भवन, भवानीशंकर रोड, दादर, मुंबई - २८. (फोन : ४६० ४१९१ • फैक्स : ४३७ २५६८)

NAVNEET

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : ५५५ २३४८ व ५५६ ६२८४.